सकलागम-रहस्यवेदी, परम गीतार्थ स्व० आचार्य देव
पूज्य श्रीमद् विजयदानसूरीश्वरजी महाराज के
—:पट्टालंकार:—

पूज्यपाद-सिद्धान्त महोदधि-आचार्य देव-श्रीमद्
विजय प्रेमसूरीश्वर जी महाराज

विश्वमंडन-विश्वविभूति-आचार्य
श्री विजय प्रेम सूरीश्वरजी महाराजसाहेब
(१८नवम्बर ५७ के संदेश से)

जिस महापुरुष ने वि० सं० १९५७ के वर्ष में श्रमण जीवन स्वीकृत किया है और जिनके निर्ग्रन्थ जीवन के ५७ वर्ष ईस्वी सन् १९५७ में पूर्ण होते हैं, उन आचार्य श्री विजय प्रेम सूरीश्वरजी महाराज का पवित्र दीक्षा दिवस (गुजराती) कार्तिक कृष्णा ६ बुद्धवार था।

आध्यात्मिकता के सर्वोच्च सिंहासन पर सुशोभित हुए महापुरुष को वन्दना करके इनके,पवित्र जीवन का सुन्दर दर्शन करके, एवं आत्म स्वातंत्र्य की स्पृहा करके, इनके जीवन से हम प्रेरणा प्राप्त करें।

आपका जन्म, पचहत्तर वर्ष पूर्व राजस्थान में स्थित पिंडवाड़ा ग्राम में हुआ था। सात भाइयों के संयुक्त परिवार में कंकुबाई का लाड़ला पुत्र, पुण्य की कलों के सदृश विकसित होने लगा। पिता श्री भगवानदासजी अपने पुत्रके गुणोंका अनुभव करके प्रसन्नता का अनुभव करते थे।

सात वर्ष की आयु होने पर बालक प्रेमचन्द को प्राथमिक

शिक्षणालय में अध्ययन करने के लिये भेजा। यहां उनकी प्रतिभा का उदय हो ही रहा था कि उन्हें अपने पिता के साथ वतन छोड़ कर सूरत समीपवर्तीय व्यारा नामक ग्राम जाना पड़ा। वहां अपने पिता के कार्य में सहायता करते हुए पन्द्रह वर्ष की अल्पआयु में ही आप उचित ढंग से दुकान का संचालन करने लगे।

इसी काल में आप शत्रुंजय गिरी की पुनीत यात्रा करने की अभिलाषा से पालिताना पहुँचे, वहां उन्हें मुनिराजों का संपर्क हुआ, प्रेमचंदकी धार्मिक उत्कंठा पूर्ण रूपेण जागृत होउठी। आप तपश्चर्या के विकट पथ पर चलने लगे, डेढ़ मास तक एक एक दिन के अंतर पर उपवास करते हुए, अंत में निरन्तर चार और आठ उपवासों की घोर तपस्या की। आपका धार्मिक ओज चमकने लगा। पवित्र सिद्ध गिरी क्षेत्र तथा त्यागी मुनिवरों के पावन सम्पर्क से और प्रभु दर्शन के लाभ का तो कहना ही क्या ? प्रेमचन्द भाई ने चढ़ती जवानी में ही भोगमय जीवन को त्यागमय जीवन में बदलने का दृढ़ संकल्प कर लिया। १६ वर्ष की आयु में ही सिद्धाचल सुवर्ण भूमी पर आप संसार का त्याग कर संयमी साधु बन गये, आज जिस बात को हुए ५७ वर्ष समाप्त हो गये हैं। प्रेमचन्द भाई मुनि श्री प्रेमविजयजी बन गये और आचार्य श्री विजयदानसूरीश्वरजी महाराजसा० के आपने चरण स्वीकारे।

अद्भुत ज्ञानोपासना

संयमी जीवन को स्वीकृत करने पर आपको ज्ञानोपासना की धुन लगी, *श्री सर्वज्ञदेव के शासन के विशाल ज्ञान समृद्धि का* भंडार प्राप्त करने के लिये आप कमर कस कर उसका मंथन करने लगे। गुरु देव की परम कृपा और आपकी घोर उपासना के फलस्वरूप आप अल्पकाल में ही ज्ञान की विशाल संपत्ति को प्राप्त कर सके। संस्कृत एवं प्राकृत भाषा पर आपने आश्चर्य-जनक अधिकार प्राप्त कर लिया। कर्म साहित्य जैसे गम्भीर एवं तिक्ष्ण बुद्धि वाले विषय पर आपने स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की। जो ग्रन्थ "कर्म सिद्धि" एवं "मार्गणाद्वार विवरण" के नाम से प्रसिद्ध हैं। इतना ही नहीं पर "कर्म प्रकृति" व "पंच संग्रह" जैसे दुर्गम एवम् दलदार ग्रन्थों पर भी चिंतन व मनन करने के लिये अपनी आयु का अधिकांश भाग समाप्त कर दिया। आप आधुनिक कालीन जैन समाज में कर्म साहित्य के एक अखण्ड एवम् सूक्ष्म अभ्यासी के रूप में प्रख्यात हैं।

इतना ही नहीं परन्तु छेद ग्रन्थों तक श्री जिनागमों का भी आपने खूब मंथन किया है और आज भी आप पूर्ण प्रतिभा-पूर्वक आगमों का विशाल ज्ञान मुनिवृन्दों को प्रदान कर रहे हैं। तत्पश्चात आपने श्रीमद् हरिभद्र सूरीजी महाराज व श्री यशो-विजयजी उपाध्याय के ग्रन्थों की तर्क पूर्ण विवेचना की है और कर रहे हैं। आप में *पांडित्यपूर्ण अनुभव मनन शक्ति,* अगाध बहुश्रुतता एवम् प्रौढ़ पांडित्यता का दर्शन आज भी हो रहा है।

—:प्रकाशकीय निवेदन:—

अध्यापक श्री खूबचन्द केशवलालजी द्वारा लिखित "कर्म-मीमांसा" नामक विषय पर एक लेख माला "श्री जैन साहित्य प्रकाश' मासिक गुजराती अंक में प्रकाशित हुई है। यह लेख माला "श्री ज्ञान प्रचारक मंडल सिरोही" की ओर से श्री बी० पी सिंघी ने एक गुजराती पुस्तक में प्रकाशित की थी। उस समय मैंने १२५ पुस्तकें खरीद कर तत्वज्ञान के अभ्यासी व उसमें रुचि रखने वाले अनेक गृहस्थों एवम् पूज्य मुनिराजों को भेंट में भेजी थी। कर्म फिलॉसफी जैसे गहन विषय को सरल एवम् संक्षेप में समझाने से तथा साथ २ जैनेत्तर दर्शनों की कर्म विषयक मान्यता प्रदर्शित करने से यह पुस्तक पाठकों को अत्यन्त प्रिय लगी। इस विषय पर अनेक विद्वानों के प्रशंसा पत्र अध्यापक श्री खूबचन्द भाई एवम् हमारे पास आये हैं उनमें से कुछ का हिन्दी भाषा में अनुवाद कर हम प्रकाशित कर रहे हैं। अनेक महानुभावों ने इस पुस्तक को हिन्दी भाषा में मुद्रित करा कर हिन्दी भाषा प्रचलित प्रदेशों के धर्म प्रेमी महानुभावों को लाभ देने का अनुरोध किया, मैंने यह सुझाव श्री खूबचन्द भाई के सम्मुख रखा। आपके द्वारा भी, यह, हिन्दी भाषा में मुद्रित कराने के सुझाव को सहर्ष स्वीकार करने से पिण्डवाड़ा निवासी श्रेष्ठिवर्य

श्री चुन्नीलालजी मूलचन्दजी एवं एक अन्य सद् गृहस्थ द्वारा दिये हुए द्रव्य की सहायता से "विजय प्रेम सूरीश्वरजी जैन ग्रन्थ माला" के प्रथम पुष्प के रूप में यह पुस्तक प्रकाशित कर सके हैं।

जैन दर्शन के अनेक मौलिक सिद्धान्त-व्यवस्था में कर्म के तत्वज्ञान का कितना महत्व है ? समस्त संसार की विचित्रता के मूल में कर्म की विचित्रता भरी पड़ी है। जैन तत्वज्ञान में कर्म का जैसा स्वरूप दर्शाया है वैसा और किसी अन्य धार्मिक दर्शन में नहीं मिलता। यह स्पष्ट रूप से इस पुस्तक से समझा जा सके वैसा है।

इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद श्री जसराजजी टी० सिंघी सिरोही निवासी, ने किया है। बन्धु श्री जसराजजी एक सुशिक्षित धर्म प्रेमी युवक हैं। जैन तत्वज्ञान में आप अत्यन्त रुचि रखते हैं तथा ज्ञानोपार्जन की दृष्टि से अध्यापक श्री खूबचन्दभाई से आपका घनिष्ट सम्बन्ध है।

इस पुस्तक के मूल लेखक श्री खूबचन्द भाई, वाव (वाया न्यू डीसा, बनांस कांटा) के निवासी हैं। ये गत ५ वर्षों से सिरोही (राजस्थान) की जैन पाठशाला में धार्मिक शिक्षक हैं, आप जैन तत्वज्ञान के प्रखर अभ्यासी हैं व आपने सिरोही की जैन पाठशाला में कर्म ग्रन्थ के अच्छे अभ्यासी तैयार किये हैं। तत्वज्ञान का अन्य को लाभ प्रदान करने के लिये तत्वज्ञान के

विषय पर पुस्तकें लिखकर मारवाड़ में प्रचार करने की आपकी तीव्र अभिलाषा है। सिरोही में रहकर आपने लगभग २५० पृष्ठों की "मूर्ति पूजा" नाम पर गुजराती भाषा में एक पुस्तक प्रकट की वह प्राय सभी स्थानों में अतिप्रिय प्रतीत हुई है। आपके लिखे हुए साहित्य को हिन्दी भाषा में मुद्रित करा कर मारवाड़ की प्रजा को लाभ देने के लिये तत्वज्ञान के प्रेमी सर्व श्रीमन्त वर्ग को आग्रह पूर्वक अनुरोध करते हैं।

हम इस पुस्तक के लेखक, हिन्दी अनुवादक और द्रव्य सहायकों का आभार प्रदर्शन करते हैं।

मुद्रणालय दोष से अथवा और किसी हेतु से इसमें कोई त्रुटि रह गई हो तो सर्व पाठक वृन्दों को पढ़कर शुद्ध करने की प्रार्थना है।

उपयोग शून्यता से श्री सर्वज्ञदेव कथित वचन से कोई विपरीत लिखा हो तो लेखक एवं प्रकाशक की ओर से वारम्वार मिथ्यादुष्कृतं।

—प्रकाशक

❀ अभिप्राय ❀

कर्म मीमांसा (गुजराती प्रकाशन) पुस्तक के विषय में कई अभिप्राय आये हैं, उनमें से कुछ का हिन्दी में अनुवाद कर नीचे दे रहे हैं:—

"कर्म मीमांसा नामक पुस्तक मिली। छोटी होते हुए भी इसमें तत्व ज्ञान खूब है। तात्विक ग्रन्थों को संक्षेप में लिखने की कला का विकास आपने व्यापक, रोचक एवम् उद्भावक किया है। अतः अंतः करण प्रसन्नता से स्वीकार करता है। आजके युग के अनुकूलः ऐसा साहित्य अमृत वचन जैसा उपकार करता है।"

—लि० भुवनतिलक सूरि का धर्म लाभ

"मैंने कर्म मीमांसा पुस्तक पढ़ी है। बाल जीवों के लिये संक्षेप में जैन शैली के आधार पर कर्म का स्वरूप समझने के लिये अत्यन्त उपयोगी है, इतना ही नहीं परन्तु प्रारम्भ में जो कर्म विषयक अन्य दार्शनिकों की मान्यता का विचार कर जैन कर्म सिद्धान्तों को पूर्ण रूपेण दृढ करने का समन्वय किया है यह विद्वान मनुष्यों के भी समझने जैसा है। इसका लेखन तथा भाषा शैली भी उत्तम है। अतः यदि इसका हिन्दी में अनुवाद हो तो अधिक उत्तम होगा।"

--लि० पंडित पुखराज अमीचन्दजी

श्रीमद् यशोविजयजी जैन संस्कृति पाठशाला, महेसाणा

"आपने अथाह कर्म सिद्धान्तों का सामान्य ज्ञान संक्षेप में सुन्दर ढंग से दिया है। उसे देखकर हर्ष होता है। सुगम शैली

से व्यक्त की हुई मुख्य २ बातें हृदय में उतर जांय वैसी हैं। अन्य दर्शनों की मान्यता का भी निष्कर्ष बताया है।"

—लि० न० अ० कपासीना का प्रणाम

"मैंने 'जैन सत्य प्रकाश' में प्रकाशित इस लेख के कितने ही भाग पहले पढ़े थे। उन्हें पुस्तक रूप में देखकर प्रसन्नता हुई। संक्षिप्त स्वरूप में रचित तुम्हारा प्रयत्न प्रशंसा का पात्र है। अभिधर्म कोष, प्रशस्तपाद जैसे शब्द एक पद में रखना उचित माना जाय। पुनरावृति के प्रसंग पर शुद्धि की सावधानता बरतने के हेतु सूचित करता हूं। प्रकाशक, प्रेरक एवम् प्रोत्साहकों को भी धन्यवाद देता हूं।"

—लि० शुभेच्छक, लालचन्द्र भगवानदास गांधी, बड़ोदरा

"कर्म विभाग जैसे गहन विषय को समझाने की आपकी शैली अत्यन्त सुन्दर है। "जैन दर्शन में कर्मवाद" शीर्षक पर आपके लेख 'कल्याण' (गुजराती) मासिक अंक में पढ़ता हूं तब प्रशस्त आनन्द आता है। इस पुस्तिका में षड्दर्शनों का तुलनात्मक विवेचन भी पढ़ा है। इसी प्रकार सरल शैली से षड्द्रव्य के विषय में लिखते रहें, ऐसी कामना करता हुँ।"

—लि० फतेहचन्द जवेर भाई का जय जिनेन्द्र

जैन सत्य प्रकाश में विभिन्न खण्डों में मुद्रित लेखमाला इस पुस्तिकाकार में प्रकाशित हुई है। जैन सिद्धान्तों के आधार पर 'कर्म' का स्वरूप स्पष्टतया समझाने वालेखक का प्रयास है। अन्य धर्मोंमें स्वीकृत हुए कर्मवादका तारतम्यभी संक्षेपमें दिखायागया है।

बुद्धि प्रकाश (मासिक) अप्रैल १९५७

द्रव्य सहायक

शाह चुन्नीलालजी मूलचन्दजी-पींडवाडा

जन्म संवत. १९६० चैत सुदि-२

'सेठ चुन्नीलालजी मूलचन्दजी'

का

-: जीवन परिचय :-

सेठ चुन्नीलालजी एक धर्म प्रेमी श्रद्धावान् व्यक्ति हैं। आप श्री आचार्य देव श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज साहब के समीपवर्तीय संसारी कुटुम्बी हैं। अन्तिम, दो वर्ष पूर्व आप नासूर के भयङ्कर रोग से ग्रस्त हो गये थे परन्तु योग्य औषधोपचार के फलस्वरूप एवम् पूर्व पुण्योदय से आपका यह रोग पूर्णतया नष्ट हो गया। इससे आपको शरीर की अनित्यता का यथार्थ ज्ञान हो जाने से, दिन प्रति दिन आपकी धर्म भावना अति प्रबल होने लगी। प्रभु भक्ति, धार्मिक अनुष्ठानादि में तन्मय होने के पश्चात जिन मन्दिरों, जिर्णोद्धार एवम् सम्यग्ज्ञान में स्वद्रव्य का यथाशक्ति सद्व्यय करने के हेतु आप उत्कण्ठित रहते हैं।

आपने पीडवाड़ा के पंचों की पड़ती भूमी पर स्वयम् के खर्चे पर एक मकान बनवा कर पंचों को अर्पण किया है तथा वहां के जिन मन्दिर में १५०० (पन्द्रह सौ) तोले चाँदी की एक पालखी बनवा कर श्री संघ के सुपुर्द की है। तदुपरान्त १५००)रू०

पींडवाड़ा के जैन मन्दिर के जीर्णोद्धार में तथा १०००) रू०
वामणवाडजी तीर्थ में श्री महावीर प्रभु के सत्ताईस भव पट्ट
में दिये हैं। आहोनी में हुई प्रतिष्ठा महोत्सव पर आ
५०००) रू० खर्च कर ल्हावा लिया था। एवम् आज भी समय
पर यथा शक्ति सुलक्ष्मी का सद्व्यय करनेवाले अभिलाषी हैं।

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	लाईन	अशुद्ध	शुद्ध
१२	३	ना	नय
१३		स	उस
२१	१३	प्रारेण	प्रकारेण
२४	७	रके	करके
२७	११	वणादिगुण	वर्णादिगुण
२७	१८	अश	अंश
२८	११	ग्रह्य	ग्राह्य
२९	२०	भेद से	संघात भेदसे
३०	१८	पदगला	पुदगला
३१	१०	स्कं	स्कंध
३८	१६	चीच	चीज
३८	१९	रेल	रेलमें
३८	२०	स्थित	स्थिर
३९	६	पकारक	प्रकारके
४०	१७	प्रवृत्तिन	प्रवृत्ति-न
४९	४	जस	जिस
५०	१८	होन	हो न
५१	१३	च प्रराकरो	चार प्रकारों
५१	१४	अर	और
५१	१८	सकने	सकनेके
५३	१७	कीमको	कर्मको
५४	१	पयन्त	पर्यन्त
६१	२०	शीघ	शीघ्र
६४	११	काय	कार्य

६६	६	अवथा	अथवा
६७	१	नोक्ष	मोक्ष
७०	५	पश्चाप	पश्चात्
७०	१७	उपरा̃	उपरान्त
७१	६	चर	चार
७२	१३	व्या	तव्यता
७७	९	अदि	आदि
७९	१	भावका	भावका प्रारम्भ
७९	२१	के	के क्षयोपशम बिना औदयिक भाव अथवा
८०	१५	प्रवत्ति	प्रवृत्ति

इससे अतिरिक्त भी मुद्रणालय दोष से कोई विरामदि या टाईप उड गये हों तो उनकी शुद्धि 'गुरुगम' गुरुकी सहायता से पाठक वृन्द को करने का निवेदन है।

कर्म मीमांसा

धर्मः—

जगत में धर्म धर्म करते तो सभी फिरते हैं, परन्तु जगत् के जीवों को प्रचलित धर्मों में से किस धर्म का अनुकरण करना सत्य है, यह पहले देखना चाहिये। धर्म के प्रति आज अनेक वाद विवाद सुनने में आते हैं, ऐसे वाद विवाद सांसारिक पदार्थों के लिये सम्भव नहीं हैं। क्योंकि जो विषय इन्द्रिय गम्य हैं, उनकी सत्यता पर पहुँचना एक क्षण का ही कार्य है। जो ऐसी सत्यता का इन्कार करने निकलते हैं उनके पक्ष का सभी कोई त्याग कर देते हैं। जरा विचार करें कि सुगंध-दुर्गंध-कड़ुआहट-मिठास इत्यादि वस्तुओं के प्रति जैसा वाद नहीं, उससे भी अधिक भव्य तथा बहुत ही गम्भीर वाद धर्म के विषय में प्रवर्तित है। इसका कारण यही है कि धर्म इन्द्रियातीत वस्तु है और इसीलिये इस सम्बन्ध में भारी गड़बड़ झाले उत्पन्न हुए हैं। जो धर्म के नाम पर दुराचार अनाचार अथवा अपारमार्थिक वस्तुओं का पोषण कर रहे हैं, वे भी स्वयं जिस वस्तु को मानते हैं, वह गलत

वस्तु है, अथवा अयोग्य है, ऐसा मानकर उस वस्तुको मान्य नहीं रखते। परन्तु अपनी अयोग्य मान्यताएं और विचार सत्य हैं, और वही सनातन अतीत कालसे चला आ रहा और सत्य धर्म है, ऐसी ही उनकी धारणा है, अपना धर्म अथवा सम्प्रदाय गलती पर है, ऐसा समझ कर उसका कोई अनुसरण नहीं करता परन्तु अज्ञानता से आत्मा छली जाती है, और अज्ञानता से ही असत्य को सत्य मानकर उसकी सेवा करने के लिये आकर्षित होती है। अज्ञान से आत्माएँ सत्य को असत्य, और असत्य को सत्य मानती हैं। तत्पश्चात अपने किये हुए निर्णय से चिपकी रहने का आग्रह करती हैं। सामान्य व्यवहार में असत्य नहीं चलता, जबकि दुर्भाग्यवशात् धर्म के विषय में गाडियों की गाडियों असत्य चला आता है, और धर्म नाम पर जो असत्य कहलाते हैं उसे बहुत से लोग आंख बन्द कर आनन्द पूर्वक स्वीकार कर लेते हैं। इतना ही नहीं, परन्तु स्वयं माने हुए सत्य के खातिर दूसरे के गले काटने को तैयार हो जाते हैं। यदि धर्म, बाह्य इन्द्रिय का विषय होता तो उसके विषय में विशेष ऊहापोह के लिए अवकाश नहीं रहता और असत्य असत्य के रूप में प्रकट होगया होता। परन्तु इन्द्रिय गम्यता से दूर रहे हुए धर्म को प्रत्येक मनुष्य नहीं

पहचान सकता, और उसीसे, आज जगत में सुख और शान्ति स्थापित करने के बदले धर्म का शम्भु मेला ही हमें दृष्टिगोचर होता है। जिससे सत्य राह पर आने के बदले जनता अधिक प्रमाण में कण्टक मय मार्ग की ओर प्रयाण कर रही है। जो महापुरुष इन्द्रिय गम्यता से भी अधिक ऊंचे प्रकार से ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ हो सके हैं वे ही धर्म के सम्बन्ध में निर्णय प्रकट कर सकते हैं। जिसने ऐसा ज्ञान प्राप्त नहीं किया वह आत्मा के सम्बन्ध में निःसन्देह अंधे के तुल्य ही है।

हम धर्म क्रियाएं करते हैं, धर्म श्रवण करते हैं, धर्म सभाओं एवं परिषदों का आयोजन करते हैं, अनेक उत्सव मनाते हैं, परन्तु धर्म तत्वको शुद्ध स्वरूप में जब तक न जान सकें तब तक ये सभी प्रवृत्तियां निष्फल ही हैं। अब विचार करो कि धर्म का ऐसा कठिन तत्व किस प्रकार हम जान सकते हैं? उसे जानने की क्या आवश्यकता है? कोई भी मनुष्य धर्म के नाम पर जो कुछ भी प्रवृत्ति करता है, उसे हम भी धर्म मानकर उस सम्बन्ध में सूक्ष्मरुप से गहराई में उतरे बिना हम भी उसीमें जुट जाएं तो क्या आपत्ति हो सकती है? कुछ भी कहलायें तो भी है धर्म, तब उस विषय में अधिक सोचने की क्या आवश्यकता है?

परन्तु ऐसी मान्यता रखना मूर्खता है। जगत में सामान्य कार्यों के लिए भी बहुत दीर्घ दृष्टि से विचार करके उससे होने वाले लाभालाभ का ध्यान करके तब प्रवृत्ति की जाती है, तो फिर धर्म जैसे महान् कार्य के लिए उपेक्षा करना कैसे उचित समझा जाय? धर्म के नाम पर मात्र 'धर्म' नाम सुनकर आकर्षित हों, किन्तु वह पोषक है, अथवा नाशक है, इस बात का ख्याल न रक्खे और सामान्य धर्म मानले तो पीछे पछताना पड़ता है, इसी कारण से धर्म का सही स्वरूप अवश्य जानना चाहिये।

सूक्ष्म बुद्धया सदा ज्ञेयो, धर्मो धर्मार्थिभिर्नरैः।
अन्यथा धर्म बुध्यैव, तद्विघातः प्रसज्यते॥

अर्थात्—सूक्ष्म बुद्धि का उपयोग करके उसके द्वारा धर्मार्थियों को धर्म जानना चाहिये, नहीं तो बुद्धि धर्म की ही हो, चाहे स्वयं मानता हो कि मैं धर्म करता हूं फिर भी धर्म का नाश होता है।

अनादि काल से यह जीव भटकता है, इसका कारण लक्ष्य में ही नहीं आया। अनादि काल से जीव का लक्ष्य मात्र इष्ट विषय, उनके साधन और शरीर पोषण ये तीन दृष्टि से ही है, जहां ये तीन दृष्टि हों वहां कैसे भी आचरण को धर्माचरण नहीं माना जा सकता। इन तीन

इन्द्रियों से जीव का कल्याण हो जाता हो तो, इतने जीव संसार में भटकते नहीं। यदि उपरोक्त तीन की ही प्रवत्ति धर्मरुप होती तो धर्म की दुर्लभता नहीं थी। इस जीव को शरीर पौद्‌गलिक सुख ही धर्म गिनाना हो तो किसी को सिखाने की आवश्यकता नहीं होती और यदि वह धर्म होता तो इतने समय तक संसार में भटकना नहीं पड़ता। आश्रव क्या वस्तु है ? कर्म बन्धन कैसे होता है ? और कैसे टूटता है ? इन बातों का ख्याल जब तक नहीं आता है वहां तक जीव वास्तविक धर्म नहीं पहचान पाते हैं।

धर्म चीज यही है कि आश्रव का आश्रव रुप में तथा संवर का संवर रूप में ख्याल आना, और कर्म की निर्जरा करने के लिये आत्मा का कटिबद्ध रहना, प्रिय लगती विषय कषाय की प्रवृत्ति को दावानल समझना और सभी कर्मों का मूलोच्छेदन करने का प्रयत्न करना, यही धर्म की सही जड़ है, यह सब समझ में आ जावे और वैसी समझपूर्वक जो ग्रहण किया जाय वो ही वास्तविक धर्म है।

धर्म एक ही प्रकार का है परन्तु दो भिन्न भिन्न साधनों के मिलने से वह भिन्न भिन्न कार्य करता है। धर्म करने वालों में दो प्रकार की भावना होती है–कई

शुभ विचार वाले होते हैं, कई शुद्ध विचार वाले होते हैं। यहां परिणाम यह उपकरण है, धर्म में परिणाम यदि शुभ हों तो वह धर्म पुण्य का बंधन कर सांसारिक सुख देता है और जो परिणाम शुद्ध हों तो धर्म निर्जरा करके मोक्ष का सुख देता है। इसीसे धर्म के दो प्रकार कहे जा सकते हैं, एक प्रकार से पुण्य धर्म और दूसरे प्रकार से ज्ञानयोग धर्म। यह ज्ञानयोग धर्म ही शाश्वत सुखों का दायक है, ऐसा होते हुए भी ज्ञानयोग धर्म की प्राप्ति न हो वहां तक पुन्य धर्म में भी आत्मा को संलग्न रखना चाहिये। पौद्‌गलिक सुख रूप इष्ट विषयों की प्राप्ति के लिये भी, धर्म क्रिया में जो संलग्न रहेगा, वह धीरे धीरे भी धर्म का सच्चा स्वरूप समझेगा और ऐसा जानेगा कि, विषयों की परवाह न रखते, मोक्ष प्राप्ति के लिये ही धर्म क्रियाएं करनी, यही सच्चा मार्ग है। ऐसा समझ करके उन विषयों का ध्येय तरीके त्याग कर देगा, और अन्तिम स्थान मोक्ष के लिये ही धर्मानुष्ठान करने लगेगा। ऐसे उद्‌देश्य से ही, अधर्म करते हुए पापबन्ध करे उसकी अपेक्षा, विषय सुखों की प्राप्ति के लिये भी धर्म करके पुन्य बन्धन करें, ऐसा शास्त्रकार चाहते हैं। परन्तु अन्त में मोक्ष प्राप्ति रुप ज्ञानयोग धर्म में आत्मा को संयुक्त होना ही पड़ेगा, और तब ही आत्मा शाश्वत

सुखकी प्राप्ति कर सकेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि पुन्य धर्म की भी अन्त में ज्ञान योग धर्म में ही परिणित होना चाहिये।

धर्म यह आत्मा के स्वामित्व की वस्तु है अतः धर्म को समझने से पूर्व हमें आत्म गुणों को समझना चाहिये। आत्मा के मूल गुणोंको देखें तो ये ज्ञान, दर्शन, चारित्र इत्यादि हैं। आत्माके इन सभी गुणों को प्राप्त करने के लिये योग्य पुरुषार्थ में अपनी कितनी न्यूनता है, तथा उन गुणोंके आवरण कर्त्ता कर्म, उन कर्मों से होता हुआ बँध, उनका उदय, उनके उदय का परिणाम, कर्म बंध तोड़ने के उपाय, आत्म विकास के सीढ़ीरुप गुणस्थानक का स्वरुप, यह सब कुछ समझना पड़ेगा। यह सब समझ में आयेगा तभी ज्ञान योग धर्म सिद्ध होगा। इस प्रकार ज्ञानयोग धर्मकी सिध्दि से ही धर्मके नाम पर होते हुए झगड़े अपने आप शान्त हो जायेंगे और जगतमें चिरस्थायी शान्ति स्थापित होगी। अर्थात् जगत में तमाम जीवों के कल्याण का कोई मार्ग है तो वह मात्र ज्ञानयोग धर्म ही है।

इस ज्ञानयोग धर्म को समझने के लिये आत्मगुणों के आवरण कर्त्ता कर्म का स्वरुप सोचना नितान्त आवश्यक है। अतः कर्म क्या है, कैसे बंधन होता है, कैसे

शुभ विचार वाले होते हैं, कई शुद्ध विचार वाले होते हैं। यहां परिणाम यह उपकरण है, धर्म में परिणाम यदि शुभ हों तो वह धर्म पुण्य का बंधन कर सांसारिक सुख देता है और जो परिणाम शुद्ध हों तो धर्म निर्जरा करके मोक्ष का सुख देता है। इसीसे धर्म के दो प्रकार कहे जा सकते हैं, एक प्रकार से पुण्य धर्म और दूसरे प्रकार से ज्ञानयोग धर्म। यह ज्ञानयोग धर्म ही शाश्वत सुखों का दायक है, ऐसा होते हुए भी ज्ञानयोग धर्म की प्राप्ति न हो वहां तक पुन्य धर्म में भी आत्मा को संलग्न रखना चाहिये। पौद्‌गलिक सुख रूप इष्ट विषयों की प्राप्ति के लिये भी, धर्म क्रिया में जो संलग्न रहेगा, वह धीरे धीरे भी धर्म का सच्चा स्वरूप समझेगा और ऐसा जानेगा कि, विषयों की परवाह न रखते, मोक्ष प्राप्ति के लिये ही धर्म क्रियाएं करनी, यही सच्चा मार्ग है। ऐसा समझ करके उन विषयों का ध्येय तरीके त्याग कर देगा, और अन्तिम स्थान मोक्ष के लिये ही धर्मानुष्ठान करने लगेगा। ऐसे उद्देश्य से ही, अधर्म करते हुए पापबन्ध करे उसकी अपेक्षा, विषय सुखों की प्राप्ति के लिये भी धर्म करके पुन्य बन्धन करें, ऐसा शास्त्रकार चाहते हैं। परन्तु अन्त में मोक्ष प्राप्ति रूप ज्ञानयोग धर्म में आत्मा को संयुक्त होना ही पड़ेगा, और तब ही आत्मा शाश्वत

कवि शिहलन मिश्र कहते हैं:—

> आकाशमुत्पततु गच्छतु वा दिगन्त,
> मम्भोनिधिंविशतु तिष्ठतु वा यथेष्टम्।
> जन्मान्तरार्जित शुभाशुभ कृन्नराणां,
> छायेव न त्यजति कर्म फलानुबन्धि।

अर्थात्:—आकाशमें उड़ो, दिशाओं के उस ओर जाओ, समुद्र की पेंदी में जाकर बैठो, मन चाहे वहाँ जाओ, परन्तु जन्मान्तर में जो जो शुभाशुभ कर्म किये हों, उनके फल तो छाया की भांति तुम्हारे पीछे ही आवेंगे, वे तुम्हारा त्याग नहीं करेंगे।

दार्शनिकोंने कर्म के भेद विविध प्रकार से किये हैं, परन्तु पुण्य-पाप,शुभ-अशुभ,धर्म-अधर्म इस प्रकार कर्म के भेद तो सभी दर्शनों में माने गये हैं। यह कहा जा सकता है कि, कर्मके पुण्य-पाप अथवा शुभ अशुभ ऐसे जो दो भेद करने में आते हैं, वे प्राचीन हैं। प्राणी को जिस कर्म का फल अनुकूल लगता है वह पुण्य और और प्रतिकूल लगता है वह पाप, ऐसा अर्थ करने में आता है। और इस प्रकारके भेद उपनिषद, जैन, सांख्य, बौद्ध, योग, वैशेषिक, इन सबमें मिलते हैं। ऐसा होते हुए भी वस्तुतः सभी दर्शनों ने पुन्य हो अथवा पाप दोनों को कर्म का बंधन ही माना है। और इन दोनोंसे

टूटता है, सर्वथा कर्मके छुटकारे से कैसी आत्मदशा प्रकट होती है, इत्यादि के विषयमें प्रथम जैनेतर दर्शन कारों की मान्यता के प्रति विचार करके फिर जैन दर्शन की मान्यता पर विचार करेंगे।

जैनेतर दर्शनों की कर्म सम्बन्धी मान्यता

समस्त जीव जो संसारमें वर्तन करते हैं, उनका आत्मत्वपन समान है। परन्तु उनमें कोई देवता है, कोई तिर्यञ्च है, कोई मनुष्य है। इस प्रकार नर, नारक, तिर्य च और मनुष्यरुप भेद से इसकी विचित्रताए हैं पुनः मनुस्यत्व सभी मनुस्यों में समान है, फिर भी उनमें कोई राजा है, कोई रंक है, कोई पंडित है, कोई मूर्ख है, कोई कुरुपवान हैं, और कोई स्वरुपवान है। इस प्रकार जो विचित्रता है, वह निर्हेतु नहीं, पर सहेतु है। उस हेतु को कर्म कहते हैं। पृथ्वी के सभी भागों में सभी दर्शनकारों ने अपने मन्तव्य में कर्मवाद को स्वीकार किया है। परन्तु भारतीय दर्शनोंमें उसका स्थान विशेष रुपसे है। भारतीय दर्शनों में अन्य विषयों के सम्बन्ध में अनेक प्रकारकी विभिन्नता और विरुद्धता होते हुए भी कर्मवाद के विषय में सभी एकमत हैं। अर्थात् मनुस्य जो कुछ करता है, उसके फल वह प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में भारतीय दर्शनों में से किसीका विरोध नहीं है। वेदपंथी

कवि शिहलन मिश्र कहते हैं:—

आकाशमुत्पततु गच्छतु वा दिगन्त,
अम्भोनिधिविशतु तिष्ठतु वा यथेष्टम्।
जन्मान्तरार्जित शुभाशुभ कृन्नराणां,
छायेव न त्यजति कर्म फलानुबन्धि।

अर्थात्:—आकाशमें उड़ो, दिशाओं के उस ओर जाओ, समुद्र की पेंदी में जाकर बैठो, मन चाहे वहाँ जाओ, परन्तु जन्मान्तर में जो जो शुभाशुभ कर्म किये हों, उनके फल तो छाया की भांति तुम्हारे पीछे ही आवेंगे, वे तुम्हारा त्याग नहीं करेंगे।

दार्शनिकोंने कर्म के भेद विविध प्रकार से किये हैं, परन्तु पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ, धर्म-अधर्म इस प्रकार कर्म के भेद तो सभी दर्शनों में माने गये हैं। यह कहा जा सकता है कि, कर्मके पुण्य-पाप अथवा शुभ अशुभ ऐसे जो दो भेद करने में आते हैं, वे प्राचीन हैं। प्राणी को जिस कर्म का फल अनुकूल लगता है वह पुण्य और और प्रतिकूल लगता है वह पाप, ऐसा अर्थ करने में आता है। और इस प्रकारके भेद उपनिषद, जैन, सांख्य, बौद्ध, योग, वैशेषिक, इन सबमें मिलते हैं। ऐसा होते हुए भी वस्तुतः सभी दर्शनों ने पुन्य हो अथवा पाप दोनों को कर्म का बंधन ही माना है। और इन दोनोंसे

मुक्ति प्राप्त करना यही ध्येय स्वीकृत किया है। इसीसे कर्म जन्य जो अनुकूल वेदना है, उसे भी विवेकीजन सुख नहीं पर दुःख ही मानते हैं। कर्म के पुन्य-पाप रुपी दो भेद वेदना की दृष्टि से ही करने में आते है। वेदना के अतिरिक्त दूसरी दृष्टि से भी कर्म के भेद करने में आते हैं। वेदना को नहीं, परन्तु अन्य कर्मको भला और बुरा मानने की दृष्टि को सामने रखकर बौद्ध और योग दर्शन में कृष्ण, शुक्ल, शुक्लकृष्ण, और अशुक्लाकृष्ण ; चार भेद करने में आये हैं। इसमें कृष्ण यह पाप, शुक्ल यह पुन्य, शुक्ल कृष्ण यह पुन्य पापका मिश्रण है, परन्तु अशुक्ला कृरण इन दोनों में से एक भी नहीं है। यह चौथा भेद वीतराग पुरुष को होता है। और उसका फल सुख अथवा दुःख कुछ भी नहीं होता है। जिसका कारण यही है कि, उसमें राग अथवा द्वेष कुछ भी नहीं होता। इसके उपरान्त कृत्य पाकदान और पाक-काल की दृष्टि से भी कर्म के भेद करने में आते हैं। कृत्य की दृष्टिसे चार, पाकदान की दृष्टिसे चार, और पाक काल की दृष्टिसे चार, इस प्रकार बारह प्रकार के कर्म का वर्णन बौद्धों के 'अभिधर्म' में और विशुद्धिमार्ग में सामान्यतः मिलता है। पुनः अभिधर्म में पाकस्थान की दृष्टिसे भी कर्म के चार भेद अधिक गिनाये हैं।

बौध्दों के समान भेद की गिनती तो नहीं परन्तु उस दृष्टिसे कर्म का सामान्य विचार 'योग दर्शन' में भी मिलता है। बौध्दों के मतानुसार कृत्य से कर्म के जो चार भेद करने में आये हैं, उनमें एक जनक कर्म है और दूसरा उसका उत्थंभक है। जनक कर्म नवजन्म देकर फल देता है परन्तु उत्थंभक फल नहीं देता, यह दूसरे के फल में अनुकूल बन जाता है।

तीसरा है उपपीठक, जो दूसरे कर्म के फल में बाधक बन जाता है, और चौथा है उपघातक, जो अन्य कर्म के विपाक का घात करके अपना ही विपाक दिखलाता है। पाक दानको लक्ष्य में रखकर बौध्द दर्शन में जो भेद करने में आये हैं। वे इस प्रकार हैं–गरुक, बहुल अथवा आचिरण, आसन्न, और अभ्यस्त। इनमें गरुक और बहुल ये दूसरे के विपाक को रोककर पहले अपना फल दे देते हैं। आसन्न अर्थात् मरण काल में किया हुआ। यह भी पूर्व कर्मसे पहिलेही अपना फल देदेता है। पहलेके कितने ही कर्म हों, परन्तु मरण काल में जो कर्म हो, उसीके आधार पर नवीन जन्म शीघ्र प्राप्त होता है। उपरोक्त तीनोंके अभाव में ही अभ्यस्त कर्म फल दे सकता है, ऐसा नियम है।

पाककाल की दृष्टि से बौध्दोंने कर्मके जो चार

१ दृष्टि धर्म वेदनीय–विद्यमान जन्म में जिसका विपाक प्राप्त हो जाय।
२ उपज्ज वेदनीय–जिसका फल नए जन्म लेने पर प्राप्त हो।
३ अहो कर्म–जिस कर्मका विपाक न हो।
४ अपरापर वेदनीय-अनेक भवों में जिसका विपाक मिले वह। पाक स्थान की दृष्टिसे भी बौध्दों ने कर्म के चार भेद कहे हैं:—अकुशल का विपाक नरक में, कामावचर कुशल कर्म का विपाक काम सुगति में, रुपावचर कुशल कर्म का विपाक रुपी ब्रह्मलोक में, और अरुपावचर कुशल कर्म का विपाक अरुप लोकमें प्राप्त होता है। बौध्दोंने कुशल कर्म को अकुशल कर्म की अपेक्षा बलवान माना है। इसलोक में पापी को अनेक प्रकार की सज़ासे दुःख भोगने पड़ते हैं, और पुन्यशाली को उसके पुन्य कृत्य का फल प्रायः इसीलोक में प्राप्त नहीं होता, इसका कारण बताया गया है कि पाप परिमित है, जिससे उसका विपाक शीघ्र प्राप्त होता है, परन्तु कुशल विपुल होनेसे उसका परिपाक लम्बे समय में होता है। फिर कुशल और अकुशल इन दोनों का फल परलोक में मिलता है, तब भी अकुशल अधिक सावद्य है, जिससे उसका फल यहाँ भी मिल जाता है।

पापकी अपेक्षा पुन्य अधिकतर क्यों है, इस का भी स्पष्टीकरण करने में आया है कि, पाप करके मनुष्यको पश्चाताप होता है कि अरे! मैंने पाप किया, जिससे उसकी वृद्धी नहीं होती, परन्तु अच्छा कर्म करने पर मनुष्य को पश्चाताप न होकर प्रमोद होता है, और उसका पुन्य उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त करता है।

बौद्धधर्म में मानने में आया है कि जीवों की विचित्रता कर्मकृत है। इस कर्म की उत्पत्तिमें कारण जैनों की तरह बौद्धों ने भी राग-द्वेष और मोह को ही माना है। राग-द्वेष और मोह युक्त होकर प्राणी मन-वचन, कायाकी प्रवृत्ति करता है, और स प्रकार संसारचक्र प्रवर्त्तमान होता है। इस चक्र की आदि नहीं परन्तु यह अनादि है। "विशुद्धि मग्ग" में कर्म को अरुपी कहने में आया है, परन्तु "अभिधर्म कोष" में अविज्ञप्ति को रुप कहा है, और रुप सप्रतिघ है। सौत्रान्तिक मतानुसार कर्म का मनावेश अरुप में है। वे अविज्ञप्ति को नहीं मानते। मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को भी कर्म कहा जाता है, परन्तु वह तो विज्ञप्तिरुपसे प्रत्यक्ष है। अर्थात् कर्म शब्द यहां मात्र प्रत्यक्ष प्रवृतिके अर्थ में लेना है परन्तु इस प्रत्यक्ष कर्म जन्य संस्कारको यहां कर्म समझना है। बौध्दों की परिभाषामें उसे वासना और अविज्ञप्ति कहने

में आताहै। मानसिक क्रियाजन्य संस्कारको-कर्मको वासना और वचन तथा कायजन्य संस्कारको-कर्मको अविज्ञप्ति कहने में आता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विज्ञान वादी बौध्दोंने कर्मका परिचय 'वासना' शब्दसे दिया है। प्रज्ञाकरने बताया कि जितने भी कार्य हैं, वे सब वासना जन्य हैं। विश्वकी वैचित्र्य सिध्दि वासना को माने बिना सम्भव नहीं।

योग दर्शनानुसार—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांच क्लेश हैं। इन पांच क्लेशों के कारण क्लिष्ट वृत्ति-चित व्यापार होता है। योग दर्शन में संस्कार के वासना, कर्म, और अपूर्व ऐसे भी नाम रक्खे गये हैं। क्लेश और कर्म का अनादि कार्य कारण भाव बीजांकुर की तरह मानने में आया है। क्लेश-क्लिष्ट-वृत्ति और संस्कार इन सबका सम्बन्ध योग दर्शन की प्रक्रियानुसार आत्मा के साथ नहीं, परन्तु चित्त-अंतः करण के साथ है और वह अन्तः करण प्रकृतिका विकार अथवा परिणाम है।

कर्म का विपाक योग दर्शन में तीन प्रकार का बताया गया है। जाति-आयु और भोग। पुनः योगदर्शन में कर्माशय और वासना का भी भेद किया है। एक जन्म में संचित कर्म, कर्माशय के नामसे पहिचानने

में आते हैं और अनेक जन्मों के कर्मों के संस्कारोंकी जो पराम्परा है उसे वासना कहते हैं। कर्माशय का विपाक अदृष्ट जन्म वेदनीय और दृष्ट जन्म वेदनीय ऐसे दो भेदों में संभव है। अर्थात् पर जन्म में जिसका विपाक मिले यह अदृष्ट जन्मवेदनीय, और इस जन्म में जिसका विपाक मिले यह दृष्ट जन्मवेदनीय। अदृष्ट जन्म वेदनीय के फल नव जन्म, उस जन्मका आयु, और उस जन्म के भोग ये तीनों हैं। दृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशय का विपाक आयु और भोग अथवा केवल भोग है, परंतु जन्म नहीं। वासना का विपाक तो असंख्य जन्म, आयु और भोगों को मानने में आता है, क्योंकि वासना की परम्परा तो अनादि है। फिर यहां शुक्ल कर्म को कृष्ण की अपेक्षा बलवान माना है और कहा हैकि, शुक्ल कर्म का उदय जब होता है तब कृष्ण कर्मका नाश, बिना फल दिये ही हो जाता है। सांख्य दर्शन की मान्यता भी योग दर्शन के समान ही है। नैयायिकों ने राग, द्वेष और मोह ये तीनों दोष स्वीकार किये हैं। इन तीन दोषोंसे प्रेरित होकर जीव की मन, वचन और काया की प्रवृत्ति होती है और इस प्रवृत्तिसे धर्म तथा अधर्म की उत्पत्ति होती है। धर्म और अधर्म को नैयायिकोंने 'संस्कार' अथवा 'अदृष्ट' नामाकरण किया है। यही जैनमत में पौद्गलिक

कर्म अथवा द्रव्य कहलता है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता में भी नैयायिकों की मान्यता का सादृश्य है। प्रशस्तपादने जो २४ गुणोंकी गणना की है, उसमें एक अदृष्ट नामके गुणकी भी गणना की है। यद्यपि इस गुणमें और संस्कार नामके गुण में भिन्नता बताई गई है। फिर भी उसके धर्म और अधर्म नामके दो भेदों से यह ज्ञात होता है कि, प्रशस्तपादने धर्माधर्म का परिचय संस्कार शब्द से दिया है। यह मान्यताभेद नहीं, परन्तु मात्र नाम भेद है, ऐसा मानना चाहिये। क्योंकि जैसे धर्म अधर्म रूप संस्कार नैयायिक मतानुसार आत्माका गुण है, वैसी ही वैशेषिक मत में अदृष्ट को भी आत्मगुण ही कहा है। यह न्याय और वैशेषिक दर्शन में भी दोषसे संस्कार, संस्कारसे जन्म और जन्मसे दोष और पुनः दोषसे संस्कार और जन्म यह परम्परा अनादि काल से ही बीजांकुर की भांति मानने में आई है। कर्म के साथ कर्म फल का सम्बन्ध किस प्रकार जुड़ा यह प्रश्न न्याय दर्शनकारके मस्तिस्क में निःसन्देह उत्पन्न हुआ था। कर्म पुरुषकृत है, उस बातका उसे ज्ञान था। कर्म का फल होना चाहिये इस बातसे गौतम असहमत नहीं थे, परन्तु ऐसी भी इनकी धारणा प्रतीत होती है कि कई बार पुरुषकृत कर्म

निष्फल होता है, यहां एक शंका पैदा हुई कि, पुरुपकृत कर्म स्वयं फल कैसे दे सकता है ? ऐसा गौतम के मनमें स्वाभाविक रुपसे प्रश्न उत्पन्न हुआ। कर्मके साथ कर्म फल का कई बार सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, इसका समाधान करते करते उन्हें कर्म और फल के बीच कर्मसे पृथक् ही एक कारण खड़ा करना पड़ा! उन्हें कहना पड़ा कि:—

"कर्म के फल में ईश्वर ही कारण है। पुरुपकृत कर्म कई बार निष्फल जाते दिखाई देते हैं। पुरुपकृत कर्म के अभाव में कर्म के फलकी उत्पत्ति संभव नहीं होती, अतः कर्म ही फलका कारण रुप है, ऐसा यदि कोई कहता हो तो यह बराबर नहीं है। कर्म फल का उदय ईश्वर के आधार पर है, अतः फल का एक मात्र कारण कर्म ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।"

गौतम के कर्मवाद में इतना समझ में आता है कि, कर्मफल पुरुपकृत कर्म के आधीन है, इस बात को वे स्वीकार करते हैं। परन्तु कर्म ही, कर्मफल का एक मात्र और अद्वितीय कारण है, यह बात उन्हें मान्य नहीं है। इनके कहने का अर्थ यह है कि यदि कर्मफल एक मात्र कर्म के ही आधीन हो तो फिर प्रत्येक कर्म फल वाला दिखाई पड़ना चाहिये। कर्मफल कर्म के आधीन है यह बात बराबर है, परन्तु कर्म के फलका अभ्युदय कर्म के

ही आधार पर टिका हुआ नहीं है पुरुषकृत कर्म कई बार निष्फल निकलता दिखाई देता है, इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म फल के विषय में कर्मफल नियंता एक ईश्वर भी है। नैयायिक यहां बीज और वृक्ष का दृष्टांत रखते हैं। वृक्ष बीज के आधीन है यह बात मान लीजिये, परन्तु वृक्ष की उत्पत्ति अकेले बीज की ही अपेक्षा से नहीं होती। उसके लिये हवा, पानी, प्रकाश आदि की भी आवश्यकता होती है। कर्म फल के विषय में भी इसीप्रकार ईश्वर की आवश्यकता रहती है। न्याय दर्शन का मूल अभिप्राय यह है कि, ईश्वर कर्म से अलग है, परन्तु कर्म के साथ फल की योजना करता है। परन्तु ईश्वर ऐसे विषयों में सिर पच्ची करे यह बात बहुतेरे दार्शनिकों को पसंद नहीं होने से, वे उसे अस्वीकार करते हैं। प्राचीन न्याय में कर्म और कर्म फलवाद की युक्ति के आधार पर ही ईश्वर का अस्तित्व टिका हुआ है। नवीन नैयायिक इस युक्ति में अधिक आस्था नहीं रखते। कर्म के साथ फल का योग करने के हेतु ईश्वर को स्वीकार करना, उसके बदले फलको संपूर्णतया कर्माधीन मानना, अर्थात् कर्म स्वयं ही अपने फल उत्पन्न करता है, यह निर्णय मानना अधिक बुद्धि संगत है। बौद्ध दार्शनिकों का यही अभिमत है। वे भी कहते:

हैं कि, कर्मवश ही संसारका प्रवाह गतिमय है : फल के सम्बन्ध में, कर्म पूर्ण रुपसे स्वाधीन है। ईश्वर के अथवा किसी अन्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है। फल के विषय में जैन दर्शन का मन्तव्य है कि कर्म पूर्णतया स्वतन्त्र है। बीच में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। पुरुषकृत कर्म यदि कभी निष्फल भी जाता दिखाई दे तब भी, बीच में ईश्वर को घसीट लाने की कोई आवश्यकता नहीं है। कारण यही है कि कर्म का फल तो अवश्य प्राप्त होने का ही है। फल प्राप्ति में कदाचित थोड़ी बहुत देर भले हो जाय, परन्तु कर्म का फल न मिले, ऐसा होना सर्वथा असंभव है। संयोग से पापी जन, सुखी दीखते हैं, और सज्जन दुःख में देखने में आते हैं, परन्तु इसी परसे यह सिद्ध नहीं हो जाता, कि कर्म के फल मिलते ही नहीं। कई बार हिंसक मनुष्य समृद्धिशाली, तथा धर्मात्मा व्यक्ति दरिद्रावस्था में दृष्टिगोचर होता है; वह क्रमशः पूर्व संचित पापानुबन्धी पुण्य कर्म तथा पुण्यानुबन्धी पाप कर्म पर निर्धारित है। हिंसा तथा धर्मिष्ठता कभी भी निष्फल नहीं जाती है। जन्मान्तर में भी इन कर्मों के फल भुगतने ही पड़ते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि कर्म, तथा कर्मफल के बीच कार्य कारण भाव का किसी प्रकार का व्यभिचार

नहीं होता। इसलिये फलोत्पादन के लिये बीच में कर्म फल नियंता ईश्वर को कोई स्थान नहीं दिया जा सकता।

अब मीमांसकों ने यागादि कर्मजन्य एक 'अपूर्व' नाम का पदार्थ स्वीकार किया है। उनका तर्क यह है कि मनुष्य जो कुछ भी अनुष्ठान करता है वह तो क्रिया रुप होने से क्षणिक होता है, इससे उस अनुष्टानसे 'अपूर्व' नामका पदार्थ उत्पन्न होता है, जो यागादि कर्म-अनुष्ठान का फल देता है। इस अपूर्व पदार्थ की व्याख्या कुमारिल ने की है। उसके अनुसार अपूर्व का अर्थ है-योग्यता। जब तक यागादि कर्मका अनुष्ठान करने में नहीं आता तब तक वह यागादि कर्म और पुरुष ये दोनों स्वर्गरुप फल उत्पन्न करनेमें असमर्थ-अयोग्य होते हैं। परन्तु अनुष्ठान के बाद एक ऐसी योग्यता उत्पन्न होती है कि जिससे कर्ता को स्वर्गफल की प्राप्ति होती है। यह योग्यता पुरुष की मानें अथवा यज्ञ कि, इस विषय में आग्रह नहीं करना चाहिए परन्तु यह उत्पन्न होती है, इतना पर्याप्त है।

अन्य दार्शनिक जिसे संस्कार, योग्यता, सामर्थ्य अथवा शक्ति के नाम से पुकारते हैं, उसीके लिये मीमांसकोंने 'अपूर्व' शब्द का प्रयोग किया है। फिर भी उनकी

मान्यता है कि, वेदविहित कर्मजन्य जो संस्कार अथवा शक्ति की उत्पत्ति होती है उसीके लिये 'अपूर्व' शब्द प्रयुक्त हो न कि अन्य कर्मजन्य संस्कार के लिये। अपूर्व अथवा शक्तिका आश्रय आत्मा है, ऐसा मीमांसक मानते हैं और आत्मा की भांति अपूर्व को भी अमूर्त मानते हैं। उनके मतानुसार अमूर्त वह स्वतन्त्र पदार्थ है।

इस प्रकार जैनेतर दर्शनों में बताये हुए कर्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में उपरोक्त विचारणा की गई है। इससे किसी भी मनुष्य को कर्मका अस्तित्व माने बिना चले ऐसा नहीं है। कर्म के अस्तित्व में शंका रखनेवाले वर्ग के भी जीवन में कितनी ही बार इच्छित धारणाएं अनेक प्रकार के प्रयत्नों के परिणाम में विपरीतपन प्राप्त करती हैं और तब येनकेन प्रकारेण उनके हृदय में कर्म सम्बन्धी श्रद्धाका उद्भव अवश्य होता है। जीव तथा कर्म के सम्बन्ध के कारण ही बंध-विश्व-प्रपंच है। और उनके वियोग पर ही मोक्ष अवलम्बित है, बंधके आधार पर ही देव- नारक की कल्पना है, पुण्य-पापकी कल्पना है, और इस सबका परभव के साथ सादृश्य है अथवा नहीं, इस शंका का आधार भी जीव कर्मका संबंध ही है। संक्षेप में संसार और मोक्ष की कल्पना भी जीव और

जड इन दोनों का संघर्ष है। जड की संगति से आत्मा को पीड़ा होत है। इस संगति को दूर करने के लिये आत्मा और कर्म की पहचान करना आवश्यक है। यह पहचान करने के पूर्व उसके अस्तित्व की श्रद्धा पहले प्रकट होनी चाहिये, क ँ की सत्ता अत्यन्त प्रबल है। किसी ी उमके सामने निम नहीं सकती, यह कर्म क्या है और कर्म के साथ कर्म फल का संबंध क्या है? यह यहां संक्षेप में बताने का उद्देश्य है, कर्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में तो पूर्वोक्त प्रत्येक दर्शन में जो वर्णन है उसे देखने से यह ज्ञात होगा कि; संस्कार-वासना-अविज्ञप्ति-माया-अपूर्व और कर्म ऐसे नामोंमें से किसी भी नाम से हो, कर्म की मान्यता तो प्रत्येक में है। कर्म पुद्गल द्रव्य है अथवा है? अथवा धर्म है? अथवा और कोई स्वतन्त्र द्रव्य है? इस विषय में दार्शनिक विवाद होते हुए भी वस्तुगत विशेष विवाद नहीं है, यह तो स्पष्टतया झलकता है। ऐसा होते हुए भी कर्म के अस्तित्व में अश्रद्धा रखने वाले आत्मा को अपना दुर्भाग्य ही समझना चाहिये।

जब तक आत्मा को एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जाय तब तक इस लोक के सिवाय परलोक में उसके गमन की मान्यता अथवा उसके कारण

पुण्य-पाप रूप कर्म की मान्यता के लिये अवकाश नहीं रहता। परन्तु ज्योंही आत्मा सत्य तत्व रूप में स्वीकार करने में आती है त्योंही इन सभी प्रश्नों पर विचार करने की उत्कंठा स्वतः जागृत हो जाती है। ऐसा होने से ही आत्मवाद और कर्मवाद के विषय में अति विस्तार पूर्वक सूक्ष्म रीति से विचार करने में आवे तब ही अनादि काल से चले आ रहे आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग मिलेगा। कर्म के साथ कर्म के फलों का सम्बंध अवश्य है, और भूतकाल के संचित कर्म पुंज के प्रताप से ही जीव वर्तमान अवस्था का उपयोग कर रहा है, ऐसा सभी दर्शन मानते हैं, परन्तु विधि पूर्वक इसका विचार किसी ने नहीं किया। कर्मवाद की जैसी व्यवस्था जैन ग्रंथों में उपलब्ध है वैसी विस्तृत व्यवस्था अन्यत्र दुर्लभ है। कर्म की विविधता और उसका विस्तृत वर्णन प्राचीन काल से जैन परम्परा में अति सुन्दर रूप से किया हुआ है। कर्म की स्थिति और कर्म के पुदगलों का कैसे भोग हो? कैसे बंधन होता है? कैसे वे छूटते हैं इन बातों का सर्वांगपूर्ण तत्वज्ञान मात्र जैन दर्शन में ही है। जैनदर्शन के शास्त्रों में कर्म के भेद, उनकास्वरूप, उनके आठ करण इत्यादि सविस्तार वर्णितहोने से जैन दर्शन कथित कर्मस्वरुप जानना अति आवश्यक है।

❀जैनदर्शन की कर्म विषयक मान्यता❀

भारत के अन्य दर्शनों का ऐसा मत है कि, कर्म अदृष्ट शक्ति है, जिसके परिणाम से व्यक्ति तथा प्रारब्ध की विविधता अदृष्ट परन्तु स्वाभाविक रुप से प्रकट होती है और इस प्रकार उसका जीवन निश्चित होता है। जैन दर्शन कर्म को भिन्न प्रकार से समझाता है, कि, जो पुदगलास्तिकाय आत्मा में प्रवेश करके "द्रष्ट" रुप से जो प्रभाव करता है वही कर्म है।

यह पुदगलास्तिकाय क्या है यह समझने के लिये पहले जगत के अन्य तत्वों का विचार करने के पश्चात् कर्म का स्वरुप समझने के हेतु पुदगलों के स्वरूप का विचार करेंगे।

जैन धर्म के सिध्दांतों के अनुसार जगत शाश्वत और नित्य है। वस्तु से यह नित्य है और पर्याय से अनित्य। जगत की युग युग में सृष्टी और प्रलय होने की मान्यता जैन सिध्दांत में नहीं है जैन दर्शन तो ऐसा ही मानता है कि यह विशाल परन्तु विस्तार में सीमाबद्ध विश्व अचल है, विविध नरकों वाले अधोजगत, विविध स्वर्गों वाले तथा निर्वाण प्राप्त आत्माओं के आवास वाले उर्ध्व जगत, विविध खंडों एवं समुद्रों वाले मध्य जगत इन सबके अस्तित्व में तथा विस्तार में तनिक भी फेर

फेर नहीं होत, जंबुद्वीप के भरतखंड में हम रहते हैं, ऐसे मध्य जगत के विविध खंडों में सामान्य संबन्ध एवं नैतिक स्थिति में कुछ २ फेरफार अवश्य होता है, परन्तु समस्त का विचार करते विश्व के इन खंडों की सीमा अचल है, यह न इस ओर बढ़ती है, न उस ओर घटती है। विश्व की शासनकर्ता कोई सत्ता नहीं है, विश्व पर राज्य चलाने वाले किसी देवता का अस्तित्व स्वीकार करने से जैन दर्शन निषेध करता है। स्वर्ग में निवास करने वाले देव अशाश्वत हैं, इनकी शक्ति परिमित है और मनुष्य-तिर्यंच-तथा नरक वासियों के सदृश अपने पूर्व भवों में स्वकृत कर्म से बांधे हुए प्रारब्ध के आधीन हैं, आज ये अलौकिक सुख का उपभोग करते हैं, परन्तु स्वकृत सत्कर्म एवं दुष्कर्मों के फल भुगतने के लिये इन्हें भविष्य में पुनः इस मध्य जगत में अवतरण करना ही पड़ेगा। जैन दर्शन की ऐसी भी मान्यता नहीं है कि यह जगत माया में से उत्पन्न हुआ है। जैन दर्शन तो यही मानता है कि जगत सत्य है और तत्वों के मिश्रण से इसका स्वरूप निर्मित है। और इसी प्रकार समस्त विश्व का मिश्रण है।

तत्वों के दो विभाग हैं:—एक जीव और दूसरा अजीव। जीवतत्व अनंत प्रथक् प्रथक् जीव है। सभी जीव

अपने अपकितत्र में केवल स्वतंत्र है और प्रत्येक अजात है, अमर है। प्रत्येक जीव स्वभाव से ही अनंत गुणों का धारक है, वह सर्वज्ञ है, सर्व शक्तिमान है और ऐसा पवित्र है कि मोह तथा दुख से वह परे है, परन्तु इसके ये सभी गुण तभी विकसित होते हैं, जब कर्मावरण दूर होता है।

अजीव तत्वों के पांच प्रकार हैं:—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय इन दो तत्वों की स्वीकृति जैन दर्शन में है, अन्य दर्शनों में नहीं है। ये दोनों तत्व आकाश में हैं, इनके स्वयं में कोई गति अथवा स्थिति नहीं है, परन्तु जीव और पुद्गल की स्थिति तथा गति के लिये इनको विशेष आवश्यकता उसी प्रकार मानी गई है, जिस प्रकार मछली के तैरनार्थ पानी आवश्यक है तथा थके हुए प्रवासी के ठहरने के लिये वृक्ष की छाया आवश्यक है।

आकाशास्तिकाय अवकाश है। उसमें सभी वस्तुएं टिकी हुई हैं। चौथा अजीव तत्व काल है। नवीन को यह पुरातन बनाता है। पांचवा और अजीव तत्वोंमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व पुद्गलास्तिकाय है। अभेद्य अछेद्य, सूक्ष्म ऐसे अनंत, असंख्य परमाणुओं से यह

तत्व बना हुआ है। प्रत्येक परमाणु छद्मस्थ का इन्द्रिय अगोचर है और केवली को गोचर है। और उसमें रुप, रस, गंध तथा स्पर्श विद्यमान हैं। निश्चित नियमानुसार वह अन्य एक अथवा अनेक परमाणुओं के साथ मिलकर समष्टिरुप धारण करता है, तथा इस प्रकार जगत में विविध स्वरुपोंको प्रकट करता है। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय--आकास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये चारों द्रव्य अमूर्त (अरुपी) हैं और पुद्गल द्रव्य मूर्त (रुपी) हैं। इन्द्रियग्राह्य वर्ण-गंध-रस और स्पर्श गुणपर्याय समुदाय जिसमें होता है वह मूर्त (रुपी) कहलाता है। वर्ण-दिगुण पर्याय का जिसमें अभाव होता है वह अमूर्त (अरुपी) कहलाता है। इन्द्रिय ग्राह्यरुपी कहलाता है, और जो इन्द्रिय ग्राह्य नहीं वह अरुपी कहलाता है।

पुद्गल दो प्रकार का होता है-अणु और स्कंध। द्रव्यका सूक्ष्म अंश जिसकी बुद्धि भी कल्पना नहीं कर सके वह प्रदेश (अणु) कहलाता है। ऐसे अंशों के एकत्रित समूहको स्कंध कहते हैं। स्कंध मिश्रित प्रत्येक सूक्ष्म अंश प्रदेश कहलाता है। ऐसा प्रदेश उस स्कंधसे जब अलग होता है, तब वह परमाणु कहलाता है। पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है, जिसके प्रदेश स्कंधसे पृथक् किये जा सकते हैं। इस प्रकार पृथक् किये हुये प्रदेश पुनः

स्कंध में संयुक्त हो सकते हैं। पृथक्करण एवं संयोजन गुण मात्र मूर्त द्रव्य पुद्गल स्कंध में से पृथक किया हुआ भाग अवयव कहलाता है; और उसका अन्तिम अवयव जो परमाणु होता है वह अविभाज्य है। परमाणु जघन्य से एक समय और उत्कृष्टय से असंख्य समय तक मुक्त एवं स्वतन्त्र रह सकता है फिर वह अवश्यमेव प्रयोग, स्वभाव आदि के निमित्त से स्कंध में विलीन हो जाता है, और वह प्रदेश नाम से पहचाना जाता है। परमाणु अगोचर होता हुआ भी रुपी है। वह इन्द्रियग्राह्य नहीं होने की अवस्था में भी स्कंध में विलीन होतेही इन्द्रिय ग्रह्य हो जाता है। एक परमाणु में एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श होते हैं। वे इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं अतः उनका ज्ञान अनुमान और आगमसे हो सकता है भिन्न भिन्न तत्व अथवा भूत एक ही प्रकार के मूल परमाणु में से परिणत हैं ऐसा रासायनिक मिश्रणों में जो स्वाभाविक शक्ति मुख्य रूप से कार्य करती है वह जातिरूप से मूलतः परमाणु ही है। आज के वैज्ञानिक युग में जैनों का परमाणुवाद अनेक शोधों द्वारा सिद्ध होकर विख्यात हुआ है। परमाणु मात्र अबध्द तथा असमुदायरूप हैं। पुद्गल का दूसरा प्रकार स्कंध, बद्ध समुदायरुप है। पुद्गल द्रव्य स्कंध अनेक प्रकार के हैं।

स्कंध द्वयणुक से लगा कर संख्यात, असंख्यात, अनंत और अनंतानंत अणुओं से बनते हैं। जिसकी गणना की जा सके वह संख्यात। जो अगणित हो परन्तु उपमा द्वारा समझाया जा सके वह असंख्यात, अगणित और दृष्टि की मर्यादा से बाहर हो वह अनंत और ऐसे अनंत के भी प्रकारों का चरम प्रकार अनंतानंत कहलाता है।

स्कंध की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है (१) संघात (मिलन) से (२) भेद से (३) संघात भेद से।

भिन्न भिन्न दो परमाणु संयुक्त होकर द्वयणुक बनते हैं, इस प्रकार एक एक परमाणु बढ़ने से त्र्यणुक, चतुर ुक, संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी, अनंत प्रदेशी और अनंतानंत प्रदेशी स्कंध बनते हैं और संघात से बने हुए कहलाते हैं।

बड़े स्कंध में से पृथक होने पर छोटे स्कंध-अवयव बनते हैं, वे भी द्विप्रदेशी से लेकर अनंतानंत प्रदेशी बनते हैं। ये स्कंध भेद से बने हुए कहलाते हैं, द्विप्रदेशी पृथक होकर अणु बनते हैं।

कभी कभी स्कंध टूटता है, उसी समय उसके भिन्न भिन्न भागों में कोई नव द्रव्य सम्मिलित हो जाता है, इस प्रकार बनने वाले स्कंध भेद से बनते हैं, ये स्कंध भी द्विप्रदेशी से लगाकर अनंतानंत प्रदेशी होते हैं।

परमाणु दो प्रकार के होते हैं:-(१) सूक्ष्म और (२) बादर। अनतानंत सूक्ष्म परमाणुओं से निर्मित स्कंध भी सूक्ष्म होते हैं। बादर परमाणुओं से निर्मित स्कंध बादर होते हैं, सूक्ष्म स्कंध इन्द्रियगम्य नहीं होते हैं, केवल बादर स्कंध ही इन्द्रियगम्य होते हैं।

इस प्रकार पुद्गल व्यक्ति रुप से अनंत होने से उसकी विविधता अपरिमित हैं अणु और स्कंध में समस्त पुद्गल सन्निहित हैं, स्वजातीय स्कंध के समूह का नाम वर्गणा है।

इस जगत में विविध स्वरूपों को प्रकट करने वाले पुद्गल द्रव्यों के अनेक कार्य हैं। पुद्गलास्तिकाय में ऐसी भी एक मुख्य विशेषता है, जिससे यह जीव में (जीव का परिणामन हो तब) भी प्रवेश कर सकता है। जिस प्रकार किसी औषधि की टिकिया मानव देह में प्रविष्ट होकर महत्वपूर्ण कार्य करती है, उसी प्रकार पुद्गलास्तिकाय भी जीव में प्रविष्ट होकर उस पर अनेक प्रकार के प्रभाव डालता है। जीव की सर्वज्ञता और सर्व शक्तिमत्ता को यह पुद्गलास्तिकाय छिपा देता है, और इससे उसमें (जीव में) मात्र परिमित ज्ञान और परिमित शक्ति रह जाती है, यह उसे कष्ट देता है और उससे उसके स्वाभाविक स्वास्थ्य का नाश होता है। यह जीव को अस्थिर शरीर

से वेष्टित बनाता है, उसे जीवन तथा मोहदान करता है तथा ऐसे प्रारब्ध का निर्माण करता है कि निश्चित अवधि तक उस जीव को मानव, तीर्यंच, देव, अथवा नारकी इन चार में से किसी एक योनि में अवतरना ही पड़ता है।

पुद्गलास्तिकाय जीव में प्रविष्ट होकर सभी प्राणियों के जन्म तथा अस्तित्व के लिये, भारतके सर्वतत्व दर्शनों के द्वारा स्वीकृत, ऐसा एक गूढ तत्व-कर्म तैयार करता है (अर्थात् जीवके साथ मिश्रित पुद्गल कर्म कहलाता है)।

कर्मयोग्य पुदगल स्कंध की वर्गणा, कार्मण वर्गणा कहलाती है। यह सूक्ष्म होने से इन्द्रियागोचर होती है। बादर नहीं होती। अन्य प्रत्येक वर्गणा की अपेक्षा कार्मण वर्गणा के पुदगल सूक्ष्म होते हैं। आत्म प्रदेश योग्य सूक्ष्म स्कंध ग्रहण करलेते हैं। आत्म प्रदेश से अभिन्न क्षेत्र के आकाश प्रदेश में ऊर्ध्व-अधः तथा तिर्यक् आदि सर्व दिशाओं से आये हुए पुदगल ही आत्मा से संबद्ध होते हैं। बंध योग्य पुदगल स्कंध अनंतानंत प्रदेशी होते हैं। संख्यात, असंख्यात, और अनंत प्रदेशी पुदगल अग्राह्य होने से बंधन में नहीं आते हैं। कर्म पुदगल का जीवके साथ एक रस सम्बन्ध बंध कहलाता है। योग के कारण कर्म योग्य पुदगलों को जीव ग्रहण करता है।

जिस कार्मण वर्गणा में कर्म रुपमें परिणाम प्राप्त करने की शक्ति है उसीको जीव ग्रहण करके कर्म रुप में उसका परिणमन करके अपने आत्म प्रदेश में विलीन कर देता है। जीव अमूर्त होने की अवस्था में भी अनादि काल के कर्म सम्बन्ध के कारण मूर्त सा बनकर मूर्त कर्मरुप पुदगलों को ग्रहण करता है। ऐसा होने का कारण आत्मा में उत्पन्न होनेवाला काषायिक भाव-परिणाम है। कषाय के अतिरिक्त कर्मग्रहण के अन्य भी कारण हैं, परन्तु कषायकी गणना उसकी विशेषता के कारण वश है

भारतके सर्वमान्य सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक कार्य, प्रत्येक शब्द, प्रत्येक विचार, दृष्ट अथवा अदृष्ट फल देता है और वह उसका पुरस्कार अथवा दंड होता है। वह फल जीवको उसके इस भौतिक भवमें प्राप्त होता है परन्तु अधिकांश प्रसंगोंमें तो आने वाले भव में ही प्राप्त होता है। जीव का कृतकर्म योग उसके नवीन भवको कारण भूत बनकर रहता है। मृत्युपरांत होनेवाले भवक परिणाम तथा प्रकार इन कर्मों से निर्धारित होते हैं। एक भौतिक भव समाप्त होनेपर इसके अनिवार्य फल, आत्माने पूर्व भवमें जो बीज बोए हों उन्हें प्राप्त करने के लिये अन्य भवमें जन्म देकर उसे भेजते हैं।

जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि है। जीव, कर्म पुदगल को ग्रहण करता है उसी समय तैलमर्दित देह पर जिस प्रकार धूलके कण जम जातेहैं उसी प्रकार ये कर्म जीव के प्रदेश में चिपक जाते हैं। जिस प्रकार भोजन करते समय लिया हुआ आहार रक्त, मज्जा और मेद रुप बन जाते हैं, और जो शरीर के आधाररुप बन जाते हैं, उसी प्रकार ऐसे किये कर्म जीवमें निश्चित् प्रकारके स्वरुप धारण करलेते हैं। जैन दर्शन में कर्म के ज्ञानावरणीयादि आठ मुख्य भेद तथा छोटे छोटे १५८ भेद करने में आये हैं। आत्माके अनंतज्ञानादि गुणों को रोकने के स्वभाव को लक्ष्यमें रखकर उन प्रकारों के नाम बताये गये हैं। इनमें से कितने ही कर्म ऐसे हैं जो वासनाओं को जाग्रत करते हैं, कितने ही ऐसे हैं जो जीवके भावी भव, आयु, गोत्र इत्यादि निश्चित करते हैं। जीव में प्रविष्ट होकर पुदगलास्तिकाय जो प्रभाव करते हैं उस प्रभाव अथवा कार्य के नैतिक गुण के आधार पर कर्म के प्रकार, उनकी अवधि तथा उनका फल निश्चित होता है। उत्तमकार्य उत्तम, तथा हीन कार्य हीन कर्म बंधन करवाते हैं। इस प्रकार कार्य तथा उसके परिणाम के भी विचित्र भेद हैं और वे सभी विभिन्न कर्म बंधन करवाते हैं।

कर्म का फल प्राप्त हो जानेपर इसका नाश होजाता

है। परन्तु प्रत्येक क्षण नवकर्मबंध होता रहता है, जिससे समाप्त हुए कर्मके स्थान पर नये कर्म प्रति पल आते रहते हैं। जिससे भवका अनादि क्रम चलता रहता है।

भारत के अन्य सभी आध्यात्मिक दर्शनों की भांति जैन दर्शनका भी यह उद्देश्य और हेतु है कि जन्म मरण की शृंखलामें से जीव को मुक्त करना और संसार के दुःख में से उसे उबारकर निर्वाण के मार्गमें ले जाना। यह साधना सभी जीवोंसे नहीं साधी जा सकती। कुछ जीव स्वभाव से ही अभव्य हैं जो कदापि मुक्त होने के नहीं, इन्हें सदा जन्ममरण की श्रृंखलामें लटकना ही रहना है। परन्तु जो जीव विशेष संयोगोंके बलसे मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी हैं वे शुभ कर्मों के बल से अपनी आत्माको परिपूर्ण करके, आत्मा में संलग्न कार्मणवर्गणाको सर्वथा नष्ट करके आत्मा के अनंत गुणों को प्राप्त करेंगे।

आत्मा के गुणों को रोकने की अपेक्षा से कर्म के प्रकार:—

मनुष्य को व्याधि हुई है ऐसा कह देनेसे ही व्याधि का ध्वंस नहीं किया जा सकता। कैसी व्याधि हुई है, उसकी उत्पत्तिका क्या कारण है, उसके ध्वंसका क्या उपाय है, कैसी औषधिसे मनुष्य के शरीर का कौनसा स्वास्थ्य बिगड़ता है ? यह सब चिकित्सक वैद्य ही कह

सकता है और ऐसे निपुण चिकित्सकों द्वारा दर्शित मार्गसे ही व्याधिका अन्तलाकर शारीरिक स्वास्थ्य पुनः प्राप्त किया जा सकता है।

इसीप्रकार आत्माके अनंतज्ञानादि गुणरुप स्वास्थ्य को रोकनेवाली व्याधि के कितने प्रकार हैं, उन व्याधियों को किस प्रकार नष्ट करके स्वस्वरुप प्राप्त कियाजा सकता है ? उन प्रकारोंका स्पष्टीकरण जैन दर्शनकारोंने बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। अन्य दर्शनकार आत्मा के गुण तथा उनको रोकनेवाले कर्मके सम्बन्ध में उतरे ही नहीं। आत्मा सचेतनता से पहचानी जाती है। जहां उपयोग हो वहां जीव अवश्य है। उपयोग, सचतेनता तथा ज्ञान जीवके लक्षण हैं। ये किससे आच्छादित होते हैं ? इस विषयका विवेचन जैन दर्शन के सिवाय अन्य किसी दर्शन में नहीं मिलता।

आत्मा का मुख्य स्वभाव ज्ञान है तथा उसे रोकने वाला ज्ञानावरणीय कर्म है, ऐसी मान्यता अन्य मतोंने स्वीकार नहीं की है। पढ़ने के बाद पुनरावर्तन क्यों करना पड़ता है ? बिना पुनरावर्तन के ज्ञान टिकनहीं सकता, अतः जिसका ज्ञान हमें हुआ है, उसे इससमय यादकरना है तो भी कई बार याद नहीं आता, स्मृतिसे बाहर होजाता है, थोड़ी देर के बाद पुनः याद आजाता है। विस्मृत होनें

के समय ज्ञानतो है ही और यदि न हो तो थोड़ी देर के पश्चात याद आजाने सो हो नहीं सकता। अब यह देखना है कि ज्ञान है और विस्मृत होजाता है इसका क्या कारण? इसका उत्तर यही है कि याद नहीं आया उस समय कोई आवरणकर्त्ता वस्तु थी। जब याद आया तब आवरणकर्त्ता वस्तु हट गई। आवश्यकता के समय याद नहीं आता इससे स्वीकार करना पड़ेगा कि ज्ञान पर आवरण डालनेवाला कोई कर्म है, जिसे जैन दर्शन में ज्ञानावरणीय कर्म कहागया है। जिसके ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हुआ हो उसे क्षण भर में याद आ जाता है, जिसमें क्षयोपशम नहीं हुआ हो उसे याद करनेमें अधिक समय लग जाता है। इसदिशामें अन्य मतावलम्बियोंने कदम उठाया ही नहीं है। आठों कर्म का परिचय करलो और आठ कर्मके विभाग, कर्मके कारण, बन्धकी, रोकनेकी तथा निर्जरा करनेकी दशा अन्य मतों में नहीं है। जिन मतावलम्बियों ने ज्ञानावरणीय कर्म स्वीकार नहीं किया, वे उसे तोड़ने का उपाय कैसे बता सकते हैं? ज्ञान को आत्मा का स्वभाव बताने से ही ज्ञान की अधिकता अथवा न्यूनता समझमें आ सकती है।

जीवके स्वभाव समान हैं, फिर भी ज्ञान में अधिकता और न्यूनता क्यों होती है? कहना पड़ेगा कि ज्ञान

आत्मा का स्वभाव है, फिर भी कोई उसे रोकनेवाली वस्तु भी है। सम्पत्ति समान हो, परन्तु ग्राहकों में दबे हुए व्यक्तिका हाथ स्वतन्त्र नहीं होता उसी प्रकार जीव केवल ज्ञानमय होते हुए भी ज्ञान स्वभाव को रोकने वाले कर्म से केवल ज्ञान का स्वरुप ढँक दिया गया है। इस प्रकार जैनदर्शन को छोड़कर अन्य दर्शनोंने ज्ञान स्वभाव को रोकनेवाला कर्म नहीं माना है, तथा उसके रोकने के कारण और तोडने के उपाय भी नहीं बताये हैं। धर्म के बतलाने वाले आत्मा के स्वभाव को रोकनेवाला कर्म भी नहीं बता सकते तो आत्म स्वभाव किस प्रकार प्रकट किया जा सकता है, यह कैसे बता सकते हैं? ज्ञान को आत्मा का गुण मानें तो दर्शन को अपने आप मानना पड़ता है। दर्शन अर्थात् सामान्य बोध। किसी वस्तु का सामान्य ज्ञान हो तो दूसरे ही क्षण वह विशेष ज्ञान होता है। इसमें पहिले जो सामान्यज्ञान होता है, उसी का नाम दर्शन है। वह दर्शन अर्थात् जीव स्वभाव को जो मानता है वही दर्शनावरणीय को भी मान सकता है। निद्रा के समय ज्ञान होते हुए भी अनुभव में नहीं आता है, क्योंकि सामान्यदर्शन, निद्रा में रुक जाने से ज्ञान किस तरह से आ सके? निद्रा समाप्त होने पर पुनः ज्ञान लाने के लिये दूसरा प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

निद्रा सामान्य दर्शन को रोकती है। इस प्रकार ज्ञानावरणीय की भांति दर्शनावरणीय भी समझना चाहिये। फिर सुख और दुःख समझ में न आवे ऐसा भी नहीं हो सकता। सुख और दुःख का कारण मूल एक भिन्न कर्म है, जिसे वेदनीय कर्म कहते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और वेदनीय तथा चौथे कर्म मोहनीय के दो विभाग हैं। (१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय।

मोहनीय के सम्बन्ध में कइयों की मान्यता सही नहीं है, और कइयों की मान्यता सही है, तो उनका वर्तन सही नहीं है। सर्वमत के जानने वाले पंडित भी अपना ज्ञान होते हुए भी सत्य पदार्थ को सत्य रूप से मानने में संकोच करते हैं। सत्य को सत्य रूप से न मानने में कोई वस्तु बाधा डालती है, जीवादिक नव तत्व सत्य हैं ऐसा अन्य मतवालों ने पढ़ा है, तथा यह जानते हैं फिर भी असत्यता के प्रति उनकी प्रीति कैसे रही? कारण ... ही है कि मान्यता को रोकने वाली कोई ... आ जाती है, और उसके हटने पर ... संभव हो सकती है।

रेल में बैठने पर ... है। पृथ्वी और ...

दौड़ते हैं। उसी प्रकार आत्मामें भी भ्रम होता है। उसके कारण सत्य को असत्य और असत्य को सत्य मानते हैं। इससे यह समझना चाहिये कि मान्यताको भ्रममें डालनेवाला कोई कर्म है और इसी कर्मका नाम दर्शन मोहनीय है।

मानव सभी प्रकारके सन्मार्गों में जीवन यापन करने की इच्छा करता है, परन्तु उनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। रोगी कुपथ्य को जानता है, मानता है, और उसे छोड़ने की इच्छा भी रखता है, फिर भी भोजन पर बैठने पर जब उसे भोजन फीका लगता है, तो वह, मिर्चीका स्वाद लेता है। खाँसीके रोगी के लिये मिर्च और तेल अपथ्य-कारी है, इस बातको जानता है. वह इन दोनों को त्याग करने की भावना रखता है, फिर भी जितने ही दृढ मन वाले कुपथ्य को छोड़ सकते हैं, और जो निर्बल मनवाले होते हैं वे दूसरों के समझाने पर भी कुपथ्यकारी वस्तुओं का सेवन करते रहते हैं। इसी प्रकार दर्शन मोहनीय के क्षयोपशमसे श्रद्धालु होने से जो सम्यक्त्व वाले हैं, वे यह मानते हैं कि, यह पाप त्याज्य है, परन्तु इच्छा रखते हुए भी उसे नहीं छोड़ सकते, उसका कारण यही है कि, वर्तन में बाधा डालनेवाली कोई वस्तु उसीको कर्म कहते हैं। अर्थात्

वर्तन की ओर ले जाता है, वही चारित्र मोहनीय कहलाता है। दर्शन मोहनीय मान्यता पर प्रभाव करता है और चारित्र मोहनीय वर्तन (व्यवहार) को प्रभावित करता है। संसार के लिये कृत प्रयत्नों में बालूसे तेल निकालना है, ऐसी अन्तः करण में मान्यता रखनेका नाम ही सम्यक्त्व है। वर्तन (व्यवहार) में विपरीतता आने पर भी मान्यता सच्ची रही तो सम्यक्त्व का नाश नहीं हो जाता। अतः मान्यता में तो भेद पड़ना ही नहीं चाहिये। इसीलिये दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ये दो वस्तुएं पृथक २ रखी गई हैं।

कर्मोदय के कारण शक्ति अथवा साधन के अभावमें प्रवृत्ति न हो सके ऐसा संभव है। जैसे उपवास करना ठीक समझने पर भी स्वयं चार चार बार खानेवाला होने से उपवास नहीं कर सकता है। कर्मोदय के कारण कार्य न होने पर भी मान्यता बराबर रहे तो सम्यक्त्व में त्रुटि नहीं होती। परन्तु एकबात लक्ष्यमें रखने की है कि परिणाम बतानेवाला, बोलनेवाला प्रवृत्तिन होने में मजबूत कारणवाला हो तो ही उसका बचाव चल सकता है।

श्रेणिक अविरति होते हुए भी उसे क्षायिक समकित मानने के लिये श्री जिनेश्वरदेव का आदेश है; अतः मानता है। असली प्रतिशत तो मान्यता के ऊपर ही

वर्तन होता है। मान्यता और आचरण में भेद वाले उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। सांसारिक कार्यों में मान्यता के प्रमाण में आचरण कई स्थलों में दृष्टिगोचर होता है। अति गंभीर कारण हो और वहां ऐसा न हो सके, यह भी संभव है। इस प्रकार दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ऐसे दो भेद मोहनीय कर्म के कहे।

पांचवा कर्म आयु कर्म है। जीवन को बनाये रखने के लिये अनेक पौष्टिक पदार्थों का उपयोग किया जाता है। स्वास्थ्य की रक्षा के लिये पूरा ध्यान रखा जाता है। भयंकर से भयंकर पीड़ा को समूल नष्ट करने के लिये विज्ञान द्वारा अनेक औषधियों अथवा इन्जेक्शनों का आविष्कार किया जाता है। दर्द के निदान की परीक्षा करके उसका उन्मूलन करने में चेष्टमान निपुण वैद्य, डाक्टर और हकीम जगत भर में हैं। बड़े बड़े राजाधिराजों अथवा अग्रगण्य देश नेताओं अथवा महर्षियों के लिये उपरोक्त सामग्री में से किसी की भी न्यूनता नहीं होती। फिर भी ऐसे लोगों की भी जीवन लीला समाप्त होने में विलम्ब नहीं होता। पास में खड़े रहने वाले एक चित्त होकर देखा करें परन्तु किसी का बस नहीं चलता। जगत की कोई भी सत्ता उसे रोक नहीं सकती। वह क्या है? अनेक चक्रवर्ती और अनेक महर्षी इसी प्रकार

चले गये इसका क्या कारण ? क्या साधन सामग्री का अभाव था ? नहीं नहीं ! मानना ही पड़ेगा कि सावधानी तथा सामग्री की विद्यमानता होने पर भी जीवन लीला के समाप्त हो जाने में कोई कारण है, और वह है आयुकर्म। आयुकर्म के स्थिति काल के पूर्ण हो जाने पर कोई भी सामग्री आयु को स्थाई बनाने में सहायक नहीं होती, नहीं तो जगत के किसी भी प्राणि को मरना प्रिय लगता ही नहीं। आयु कर्म जगत में न होता तो अनेकों के जीवन आज भी अस्तित्व में होते।

जगत में छोटे बड़े अनेक प्रकार के प्राणी हैं सब में शारीरिक अवयव, शारीरिक बंधन, शारीरिक सौन्दर्य और इन्द्रियों का न्यूनाधिकपन है। कोई मनुष्यपने में, कोई पशुपने में, कोई देवरूप में और कोई नारकी के रूप में है। इस प्रकार इस संसार पट्ट पर परिभ्रमण करने वाले जीवों की उपरोक्त संजोगों में जो भिन्नता दिखाई पड़ती है, उन भिन्न भिन्न रूपों में वैसे संजोग करने वाला कर्म 'नामकर्म' के नाम से पहिचाना जाता है।

इसी प्रकार किसी का बड़े राजा महाराजाओं के यहां जन्म, और किसी का चंडाल आदि के यहां जन्म होता है इसका क्या कारण ? नीच कुलमें जन्म लेना किसी को भी पसन्द नहीं, इसका क्या कारण ? उच्च कुल तथा

नीचकुल दिलानेवाला भी किसी को मानना पड़ेगा। और वह 'गोत्र कर्म' के नाम से पहिचाना जाता है।

अब अंतराय कर्म के सम्बन्ध में विचार करें। लक्ष्मी होते हुए भी दान देने की इच्छा नहीं होती? लक्ष्मीवान कितना ही वर्ग पुणिया शेट जैसा होता है, फिर भी वह दान देने के लिये आतुर होता है। कई परिश्रम करके भी धनोपार्जन नहीं कर सकते, और कई बिना परिश्रम के भी लक्ष्मी प्राप्त कर सकते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि दान तथा लाभ का गुण उत्पन्न होना कर्माधीन है। और उस गुणको रोकनेवाले कर्मको अंतराय कर्म कहते हैं। इस प्रकार कर्म के आठ प्रकारों को जो नहीं जानते हैं, वे आत्म कल्याण के मार्ग पर आही नहीं सकते हैं। इन प्रकारोंके द्वारा कर्म का सविस्तृत स्वरुप समझने के लियेजैनदर्शन में कथित तत्वज्ञान (फिलोसोफी) समझनी पड़ेगी।

पूर्वबद्ध कर्म में परिवर्तन

पूर्वोक्त आठ प्रकार से कर्म बंधन होता है। कर्म कैसे स्वभाव में, कितनी अवधि तक, कैसे रसपूर्वक, और कितने प्रमाण में उदय (फलदेने के समय) में आयेगा, यह कार्मण वर्गणाका संसारी आत्मा के साथ बन्ध होने के समय ही नियत हो जाता है। परन्तु उस कर्मका उदय

आरम्भ होने से पूर्व उसमें कुछ फेरफार होजाता है। यह फेरफार होने का कारण जीव के पूर्व कर्म की अपेक्षा वर्तमान अध्यवसायों पर विशेषतः होता है। इस मान्यता से सिद्ध होता हैकि बन्धनके समय निर्धारितकी हुई बातों में भी परिवर्तन हो सकता है। प्रत्येक परिबद्ध कर्म का इस प्रकार परिवर्तन होता है, ऐसा भी नहीं। परन्तु विशेष संस्कारवाले कर्म में ही इस प्रकारका परिवर्तन होता है। इससंस्कारकी उत्पत्ति बन्धके समय ही कर्म में पैदा होती है। कोई कर्म ऐसे संस्कारवाला होता है कि, बन्ध के समय नियत की हुई बातोंमें किसी भी प्रकार से कोई परिवर्तन होता नहीं है।

यथानिश्चित इसे भुगतना ही पड़ता है, ऐसे संस्कार वाले कर्मको जैनशास्त्रमें 'निकाचित कर्म' कहते हैं। निकाचित के अतिरिक्त दूसरा एक ऐसे सस्कारवाला कर्म होता है कि उसमें कर्म विषयक जो फेरफार होनेके प्रकार दर्शाये गये हैं, उनमें से स्थिति और रस में ही न्यूनाधिक होने के स्वभावरुप प्रकारोंका होना सन्निहित हैं। ऐसे संस्कारवाले कर्म को 'निधति' कर्म कहते हैं। इन दो संस्कारों के अतिरिक्त अन्य कार्मण वर्गणामें कभी कभी अध्यवसाय के बल से प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेशमें न्यूनाधिक परिवर्तन होना संभव है।

ये परिवर्तन अल्पाधिक अंश में अबाधाकाल में होते हैं। अबाधाकाल अर्थात कर्म बंध होने के पश्चात् तथा उदय के पूर्व का काल समझना चाहिये। उदयावलिकों के प्राप्त कर्मों में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। कर्मों के किन किन अंगोमें कैसे कैसे परिवर्तन होते हैं, और उसप्रकार होनेवाले परिवर्तन किन नामों से जाने जाते हैं वह इस प्रकार है :—

कर्म की स्थिति और रसकी वृद्धि अथवा हानि का आधार मनुष्य के पूर्व कर्मकी अपेक्षा विद्यमान अध्यवसायों पर विशेषरूपसे रहता है।

एक समयकृत अशुभ कर्मोंकी स्थिति और रसमें भी पीछे से कृत शुभ कर्मों द्वारा न्यूनता की जा सकती है और प्रथमकृत शुभ कृत्यों के द्वारा उपर्जित शुभ कर्म की स्थिति और रसमें भी तत्पश्चात कृत दुष्कृत्यों के योग से न्यूनता लाई जा सकती है। इस क्रिया को जैनदर्शन में 'अपवर्तना' कहते हैं। इसमें अशुभ कर्म का रस अशुभ होता है। आत्म विकासका मार्ग सुलभ बनाने के लिये अशुभ कर्म की स्थिति और रस की अपवर्तना आवश्यक है। उपभोगका काल-प्रमाण और अनुभवकी तीव्रता-मंदता निश्चित हो जाने पर भी आत्मा उच्चकोटिके अध्यवसायसे उसमें न्यूनता कर सकता है। कर्म राजाके

आरम्भ होने से पूर्व उसमें कुछ फेरफार होजाता है। यह फेरफार होने का कारण जीव के पूर्व कर्म की अपेक्षा वर्तमान अध्यवसायों पर विशेषतः होता है। इस मान्यता से सिद्ध होता हैकि बन्धनके समय निर्धारितकी हुई बातों में भी परिवर्तन हो सकता है। प्रत्येक परिबद्ध कर्म का इस प्रकार परिवर्तन होता है, ऐसा भी नहीं। परन्तु विशेष संस्कारवाले कर्म में ही इस प्रकारका परिवर्तन होता है। इससंस्कारकी उत्पत्ति बन्धके समय ही कर्म में पैदा होती है। कोई कर्म ऐसे संस्कारवाला होता है कि, बन्ध के समय नियत की हुई बातोंमें किसी भी प्रकार से कोई परिवर्तन होता नहीं है।

यथानिश्चित इसे भुगतना ही पड़ता है, ऐसे संस्कार वाले कर्मको जैनशास्त्रमें 'निकाचित कर्म' कहते हैं। निकाचित के अतिरिक्त दूसरा एक ऐसे संस्कारवाला कर्म होता है कि उसमें कर्म विषयक जो फेरफार होनेके प्रकार दर्शाये गये हैं, उनमें से स्थिति और रस में ही न्यूनाधिक होने के स्वभावरूप प्रकारोंका होना सन्निहित है। ऐसे संस्कारवाले कर्म को 'निधत्ति' कर्म कहते हैं। इन दो संस्कारों के अतिरिक्त अन्य कार्मण वर्गणामें कभी कभी अध्यवसाय के बल से प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेशमें न्यूनाधिक परिवर्तन होना संभव है।

ये परिवर्तन अल्पाधिक अंश में अबाधाकाल में होते हैं। अबाधाकाल अर्थात कर्म बंध होने के पश्चात् तथा उदय के पूर्व का काल समझना चाहिये। उदयावलिकों के प्राप्त कर्मों में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। कर्मों के किन किन अंगोंमें कैसे कैसे परिवर्तन होते हैं, और उसप्रकार होनेवाले परिवर्तन किन नामों से जाने जाते हैं यह इस प्रकार है :—

कर्म की स्थिति और रसकी वृद्धि अथवा हानि का आधार मनुष्य के पूर्व कर्मकी अपेक्षा विद्यमान अध्यवसायों पर विशेषरुपसे रहता है।

एक समयकृत अशुभ कर्मोंकी स्थिति और रसमें भी पीछे से कृत शुभ कर्मो द्वारा न्यूनता की जा सकती है और प्रथमकृत शुभ कृत्यों के द्वारा उपर्जित शुभ कर्म की स्थिति और रसमें भी तत्पश्चात कृत दुष्कृत्यों के योग से न्यूनता लाई जा सकती है। इस क्रिया को जैनदर्शन में 'अपवर्तना' कहते हैं। इसमें अशुभ कर्म का रस अशुभ होता है। आत्म विकासका मार्ग सुलभ बनाने के लिये अशुभ कर्म की स्थिति और रस की अपवर्तना आवश्यक है। उपभोगका काल-प्रमाण और अनुभवकी तीव्रता-मंदता निश्चित हो जाने पर भी आत्मा उच्चकोटिके अध्यवसायसे उसमें न्यूनता कर सकता है। कर्म राजाके

साथ स्थिति का यह ठहराव किया हुआ है कि यह कोड
कोड़ी सागरोपम तक उपभोग में आवेगा । शर्त ठहरा
की अधिकतम स्थिति की अवधि ७० कोड़ाकोड़ी साग-
रोपम की होती है, परन्तु उस शर्त की अवधि को कम
किया जाय तब ही आत्मा आगे बढ़ती है । यदि कम
रखनेकी शक्ति न आवे तो प्रगति हो ही नहीं सकती ।
किसी स्थलका पानी ऐसा होता है कि उससे चून्हे पर रखी
हुई दाल घंटोंतक भी नहीं पकती, परन्तु उसमें सोडा
अथवा ऐसा ही कोई अन्य द्रव्य डाला जाय तो वह तुरत
पक जाती है, और इस प्रकार उसकी घंटों की स्थिति में
न्यूनता लाई जा सकती है । इसी प्रकार आत्मा के विशेष
प्रकार के अतिशुभ परिणाम से जो कर्म ७० कोडाकोडी
सागरोपम तक भुगतने का हो, उसका उपभोग काल
घटाया जा सकता है । उसे घटाकर अल्परुप में भोगा जा
सकता है । कर्म में काल जागृत वस्तु है । उसका
मुलोच्छेदन हो जाय तो मोक्ष निकट ही है । अर्थात् जो
कर्म की स्थिति को तोड सकता है वही गुण प्राप्त कर
सकता है । जैनदर्शन में सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति,
उपशमश्रेणि यावत क्षपकश्रेणिरुप गुणका आधार स्थिति पर
ही कहा गया है । सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व ग्रंथिभेद
करे । ६९ कोडा कोड़ी अधिक स्थिति तोडे तब सर्व

आता है। उससे अधिक स्थिति तोड़े तो देशविरति को प्राप्त करता है, उससे भी संख्यातीत सागरोपम तोड़े तब सर्वविरति प्राप्त होती है। इस प्रकार आत्मा के गुण प्रकट करने के लिये कर्म की स्थिति को तोड़ना पड़ता है। कर्म की स्थिति को तोडने का कार्य एक ही समय में नहीं हो सकता है, परन्तु असंख्यात समय लगता है। पहलीवार जितनी स्थितिको तोडना आरम्भ करें उतनी टूट गई। दूसरी बार भी यथेच्छित टूट गई तो ही पर्याप्त प्रगति होती है। स्थिति को तोड लेने पर भी कर्म प्रदेशों का समूहतो जैसा नियत होता है वैसा ही रहता है। अन्तर इतना ही पडता है कि जिन प्रदेशोंके समूह के उपभोग में दीर्घकाल व्यतीत करना होता है वे प्रदेश संक्षिप्त काल में उपभोग में आ जाते हैं। परन्तु उपभोग का सत्व ऐसा ही रहे तो इकट्ठा हो जाता है और कठिनाई उपस्थित कर देता है।

निल्य आधी आनी के तोल की नशीली वस्तु एक माह तक नियमित रुप से लेने वाला एक माह में लग भग एक तोले तक पहुंच सकता है, परन्तु एक माह की इकट्ठी लेले तो वह मृत्यु को निमन्त्रण देता है। धीरे धीरे उपयोग में लेने की वस्तु धीरे धीरे ही खाई जाय तो हानि नहीं होती, एक साथ खाने से हानि होती है।

एकदम उपभोग करने की रीति उन्नति के हेतु नहीं पर अवनति के गर्त की ओर ले जाने वाली होती है। परन्तु उसके सत्व को ही नष्ट करदे तो एक ही बार में भी ली हुई वस्तु हानिकारक नहीं होती। अधिक मात्रा में खाया हुआ आम का रस वायु का प्रकोप करता है, पेट में असह्य पीडा पैदा करता है परन्तु रसके सत्व को नष्ट करने के पश्चात उसका उपयोग करने से वायु की उत्पत्ति नहीं होती। अधिक मात्रा में आम खाने के शौकीनों को ऐसे समय में सोंठ का आम में मिश्रण करना चाहिये जिससे फिर उसके उपयोग में कोई हानि होने की सम्भावना नहीं रहती। इसी प्रकार कर्म का बंधन एक बार हो जाने पर भी उस बंधन को निर्बल करने के लिये उसकी स्थिति और रस अनुक्रम से संक्षिप्त और मंद करना आवश्यक है। यदि वे संक्षिप्त और मन्द न होते हों तो उपदेश, तपस्या, दान, धर्म आदि कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं रहती। इन सब शुभ अनुष्ठानों और शुभ परिणामों के द्वारा पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों की स्थिति में न्यूनता और रस की तीव्रता में मंदता लाई जा सकती है। वह न्यूनता किस प्रकार लाई जा सकती है? सर्दी लगने पर उसके विरोधी कारणों की प्राप्ति होने पर सर्दी उड जाती है, उसी

प्रकार जिस परिणाम से स्थिति और रस का बंधन हुआ हो उसके विरोधी परिणामों से ही उसका नाश हो सकता है।

जस समय स्थिति घात हो उसी समय रसका भी घात हो तो स्थिति और रसका घात एक ही समय हो जाता है, परन्तु स्थिति में जितनी कमी होती है, उसकी अपेक्षा रस में अनंतगुणी कमी होती है। रसघात की प्रतियोगिता में स्थिति घात धीरे चलता है।

कृत कर्म अवश्य भुगतने पड़ते हैं, ऐसा जो कहा जाता है सो प्रदेश की अपेक्षा से। प्रदेशबंध टूट नहीं सकते, स्थितिबंध तथा रसबंध टूट सकते हैं। स्थितिघात को सूचित करने वाले समुद्‌घात का वर्णन जैन शास्त्र में मिलता है। यह समुद्‌घात इस स्थिति पर आश्रित है:— मोक्ष प्राप्त करने वाले मनुष्य का अधिकतम आयुष्य क्रोड पूर्वका होता है, अर्थात आयुष्य की अपेक्षा कर्मों की स्थिति बढ़ जाती है, चरम शरीर वाले का आयुष्य थोड़ा नहीं जा सकता, उनका आयु पूर्ण हो जाय फिर भी वेदनीय आदि की स्थिति शेष रह जाती है। आयु न रहने पर अन्य शेष रहे हुए कर्मों का भोग कैसे हो सकता है? आयु पूर्ण होने पर मोक्ष जाना संभव हो सकता है, परन्तु आयु स्थिति पूर्ण होने पर भी वेदनीय

आदि कर्म यदि शेष रह जाय तब क्या करना ? यह सब प्रभाव स्थिति तोड़ने पर निर्भर है। अर्थात चार घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञानी हुए हुए आत्मा शेष रहे वेदनीय, नाम, गोत्र, और आयु इन चारों में से वेदनीय, नाम और गोत्र की लम्बी स्थिति संक्षिप्त करके, आयुष्य कर्म की स्थिति के तुल्य बनाने के लिये समुद्घात करे, जो स्थिति न्यूनतम रखनी हो वह रख कर शेष सभी तोड़ दे; सर्वथा अपवर्तन करे, केवल कच्ची दो घडी की स्थिति रखकर शेष भाग नष्ट कर दे। इस प्रकार केवली भी जब तक मोक्ष जाने की तैयारी नहीं कर पाते तब तक कर्म भुगतते रहते हैं। अन्तिम समय जब मन-वचन और काया के योग रोक लिये जाते हैं, तब स्थिति का क्षय करते हैं। यह विवरण स्थिति का अपवर्तन करने के विषय में यहां समझने के लिये दिया गया है। इस प्रकार कर्म की स्थिति और रसमें न्यूनता होने वाली अपवर्तनाकरण के विषय में कहा गया। उससे विपरीत क्रिया को 'उद्वर्तना' कहते हैं। अशुभ कर्म बंधन होने के बाद भी बन्ध समय की अपेक्षा तत्पश्चात के विशेष कलुषित अशुभ अध्यवसाय होने के फलस्वरुप नियत स्थिति और रसमें जो वृद्धि होती है उसे उद्वर्तना कहते हैं। उद्वर्तन और अपवर्तन करण से

यह समझ में आता है कि अज्ञानता वश अथवा मोहनीय कर्म की विशेष प्रबलता के योग से हुई भूल के परिणाम में भूतकाल में बद्ध कर्म के दीर्घकाल व तीव्र रूप से भोगने से बचने के लिये, वर्तमान जीवन पवित्र बनाकर और सदा चरण में प्रवृत्ति करके आत्मा के परिणाम को अत्यन्त विशुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।

ऐसा उदवर्तन और अपवर्तन सम्बन्धी विवरण जैन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में प्रायः दृष्टिगोचर ही नहीं होता है। कारण यह है कि यह विवरण प्रकृति, स्थिति रस और प्रदेश रूप चार प्रकार से बद्ध होने वाले कर्म से स्थिति और रस से सम्बद्ध है। जैनेतर दर्शन में मात्र कर्म बन्धन होता है, इतना ही कथन है। बंध के इन चप्रकारों का सविस्तार वर्णन नहीं है। अर्थात स्थिति और रस बंध का कथन वहां न होने से उदवर्तन और अपवर्तन का स्वरूप जैन दर्शन के सिवाय अन्य दर्शनों में जानने को नहीं है, यह स्वाभाविक है।

जैसे अपवर्तना और उद्वर्तना द्वारा स्थिति और रस के स्वरुप में न्यूनाधिकता हो सकने लिये फेरफार हो सकता है, उसी प्रकार कर्म की प्रकृतियों में एक ऐसा भी फेरफार हो सकता है कि यद्ध कर्म की प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश इन चारों का अन्य कर्मरूप में भी परिवर्तन

हो जाता है। प्रकृतिके भेदसे कर्म के आठ मूल भेद जैन दर्शनमें बताये गये हैं। उनमें से प्रत्येक प्रकारके कर्मके उपभेद भी बताये हैं। उनमें यह परिवर्तन सजातीय कर्म रुपसे ही होता है। परन्तु विजातीय कर्मरुप से नहीं होता, यह ध्यान में रखना आवश्यक है। उदाहरणार्थ—वेदनीय कर्मका परिवर्तन मोहनीय कर्म में नहीं हो सकता। हाँ, शातावेदनीय के रुपमें परिवर्तन हो सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि, सजातीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियों में यह परिवर्तन होता है। ऐसे परिवर्तन को संक्रमण कहते है। यह संक्रमण भी अध्यवसायके बल पर ही होता है। इनमें भी कई सजातीय उत्तर प्रकृति ऐसी है, जिनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणार्थ-दर्शन मोहनीय का संक्रमण चारित्र मोहनीय में, तथा भिन्न आयुष्यका परस्पर संक्रमण नहीं होता।

उदयकाल प्रारम्भ होने से पूर्व, अध्यवसाय के अभावमें इस प्रकार संक्रमण नहीं होने से, निश्चित हुए प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश के रुप में रहे हुए कर्म कभी कभी अबाधास्थिति समाप्त होते, विरोधी प्रकृतिमें संक्रमण होकर पररुप से भी उदयमें आते हैं। उसके लिये यह स्थिति है कि, अबाधास्थिति समाप्त होने पर कर्म को किसी भी प्रकार से उदयमें आकर निर्जरा करनी ही

चाहिये ऐसा अटल नियम है। अब उस समय यदि विरोधी प्रकृतिका उदय गतिमय होतो स्वयं विरोधी प्रकृतिमें संक्रमण होकर पर प्रकृतिरूपसे भी उदय में आता है और विरोधी प्रकृति का उदय बन्ध होते ही वह कर्म स्वस्वरुप में उदय में आता है। अथवा विरोधी प्रकृतिका कदाचित, उदय न हो, परन्तु स्थान ही स्वरुपोदय के लिये अनुपयुक्त हो तो भी परप्रकृतिरुप से उदय में आता है। इस प्रकार संक्रमण के सम्बन्ध में समझना। अब कर्म नियतकाल से पूर्व भोगने में आवे इस सम्बन्ध में विचार करें।

आत्मा के साथ बद्ध कर्म बन्ध होने के साथ ही उदय में आना चाहिये ऐसा नियम नहीं है। जिस समय जितनी स्थितिवाला जो कर्म आत्मा बाँधती है और उसके हिस्से में जितनी कर्म वर्गणा आती हैं वे वर्गणाएं उतने समय तक नियत फल दे सके उसके लिये उसकी रचना होती है। आरम्भ में कई स्थलोंपर रचना होती ही नहीं, उसे अबाधा काल कहते हैं। उस काल में बांधे हुए कर्मको भुगतना नहीं पड़ता है। आबाधाकाल पूर्ण होने पर क्रमशः भोगने के लिये उसके दलिककी रचना होती है। आबाधा काल के पश्चात के प्रथम स्थानक में अधिक, द्वितीय में कम, तृतीयमें कम, इस प्रकार स्थिति बन्धके

अन्तिम समय पर्यन्त दलिकका निर्माण होता है। एक मिनिट की लगभग साढे तीन लाख आवलिकाएं मानी जाती हैं। अबाधाकाल में से निमुक्त हुए कर्म दलिकोंमें से कई दलिकोंके भोगनेका कार्यक्रम प्रथम एक आवलिका जितने समय में आयोजित किया जाय उतने निषतकाल को 'उदयावलिका' कहते हैं। अर्थात् उदय के समय से लगाकर एक आवलिका तक भोगने के समय को प्रथम उदयावलिका कहते हैं। कर्मके सभी दलिक एक आवलिका जितने समय में समाप्त नहीं होते, परन्तु एक आवलिका पूर्ण हुई नहीं कि दूसरी प्रारम्भ हो जाती है। प्रत्येक उदयावलिकामें कर्मका उदय जारी रहता है। इस प्रकार कई उदयावलिकाएं बीतने पर कर्मोदय काल पूरा होता है। इस प्रकार कर्मदल भोगनेका कार्यक्रम होता है। अबाधाकाल पूर्ण होने के बाद उदय शुरू होकर कर्मदलिक उदयावलिकाओं में प्रविष्ट होकर फलदायी बनते हैं। यह अबाधाकाल का नियम स्थितिबन्ध पर आश्रित है। वह नियम ऐसा है कि जघन्य स्थितिबन्ध में अंतर्मुहूर्त का अबाधा काल (अनुदयकाल) होता है। समयाधिक जघन्य स्थितिबन्धसे लगाकर जबतक पल्योपम के असंख्य भागाधिक बन्धसे आरम्भ होकर दूसरे पल्योपम का असंख्यातवां भाग पूर्ण हो तबतक दो समयाधिक

अन्तर्मुहूर्त का अबाधा काल होता है। इस प्रकार पल्योपम के असंख्यातवें भागाधिक बन्धमें समय समय का अबाधाकाल बढाते २ पूर्ण कोड़ाकोड़ी सागरोपम के बन्ध में सौवर्ष का अबाधाकाल हो जाता है। अर्थात इतनेकाल के जितने समय होते हैं उतने स्थानक में दलिक रचना नहीं होती है। सामान्यरुप से कर्म फलदायी बनने का इस प्रकार नियत काल होता है तो भी इसके नियतकाल के पूर्व भी इसे उदयमें लाया जा सकता है, उसे जैन पारिभाषिक शब्दोंमें 'उदीरणा' कहते हैं। सामान्यतः जिस कर्मका उदय चलता हो उसके सजातीय कर्म की ही उदीरणा हो सकती है। कर्मोदय होनेका समय न भी हुआ हो तो भी जबर दस्ती उदय में लाकर भोगे वह उदीरणा कहलाती है। आत्मा को शुद्ध करना हो तो अपक्व काल में भी कर्म काटने का मार्ग होना चाहिये। अपक्वकालमें भी कर्मको काटा जा सके तो ही सम्यक्त्व देशविरति, ज्ञान होना संभव है। अपक्वकाल में कर्म नहीं काटे जा सकते होते तो कितने ही सुन्दर कर्म करो उनकी क्या कीम्मत होती। जो कर्म अभी उदयमें नहीं आता वह दीर्घकाल में, भविष्य मे उदय में आनेका है। अभी जो नहीं भुगतना पड़ता वह नरक में भोगना पड़ता है, परन्तु उन कर्मों को अभी ही जो भोग में

लाये जांय तो वे उदीरणा के द्वारा भोगे हुए कहलायेंगे। जो सहन करने की शक्तिवाले होते हैं, वे ही, सहन कर सकते हैं। सहनशक्ति न हो तो उल्टे द्विगुणित बन्ध करते हैं। भोगने में यदि आर्त-रौद्र ध्यान करे तो नरकादि आयुष्य बन्ध होता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा तो समय से पूर्व उदय में आ जाय उसीमें भवितव्यता का उपकार मानता है। वह तो ऐसा ही समझता है कि, ऋण तो कैसी भी स्थितिमें चुकाना ही पड़ेगा। परन्तु अच्छी स्थितिमें ऋण आसानी से चुकाया जा सकता है। जिनेश्वर जैसे देव इत्यादि प्राप्त हों ऐसे समय कर्म भोग कर परिणाम को न टिका सके तो जिस समय जिनेश्वर के धर्म का श्रवण न होगा तब परिणाम कैसे टिक सकेगा? तपस्या-लोचादिक ये सब वेदनीय की उदीरणा हैं। अर्थात यहां समझना है कि कर्म उदयमें आया और कर्म उदयमें लाया गया ये दो विभिन्न बातें हैं। हम लोग उदयमें आये हुए कर्मों से तो उकता रहे हैं तो फिर उदयमें लानेकी बाततो दूर रही। जब महापुरुष यह देखते हैं कि इस स्थान पर प्रतिकूलता होगी तब उसे देखते और जानते हुएभी उदय होने के स्थान की ओर दौड़ते हैं अर्थात महापुरुष उदीरणा करके कर्म उदयमें लाते हैं। अघाती की उदीरणा देखभाल कर की

जा सकती है, परन्तु घाती की उदीरणा तो बलवान ही कर सकते है।

जहां विपाक नहीं वहां मात्र प्रदेश, घातीकी उदीरणा करता है; शेष अघाती की उदीरणा की जाती है। चढ़ते गुणठाणावाले घाती की उदीरणा कर सकते हैं। इससे ज्ञात होता है कि घाती और अघाती की उदीरणामें भी ध्यान रखना पड़ता है। घाती की उदीरणा करने में सामान्य आत्मा को हानि है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय ये चारों घाती कर्म हैं। तो मानों कि इनका उदय शीघ्र अथवा विलम्बसे कभी भी ठीक नहीं। याने उसकी उदीरणा भी कष्टदायी होती है। अब कोई प्रश्न करे कि घाती कर्म की कदाचित उदीरणा न करे, परन्तु आत्मा के समागत्र अर्थात शेष कोई घाती कर्म हो, उनसे काल का परिपाक याने विपाकोदय तो होने का ही है, उस समय वे आत्म गुणों का घात करनेवाला हो तो वैसे कर्मों से होते हुए आत्मगुणोंके घात से बचने के लिये क्या पुरुषार्थ करना चाहिये ?

घाती कर्म द्वारा आत्मा के गुणों के होते हुए घात से बचने के लिये ऐसा है कि, आत्मा पुरुषार्थ करे तो उन कर्मों के उदय काल में आत्मा कई गुण प्रकट करता है। परन्तु उसका अभ्यास होना चाहिये। आत्मा अभ्यस्त

होना चाहिये। अभ्यस्त आत्मा उन कर्मों को क्षायोपशमिक भावसे सहन करता है। क्षयोपशम अर्थात सर्वथा क्षय नहीं, परन्तु ऐसा क्षय कि जिसमें उस कर्मके दलियों को विपाकोदय में न आने देकर प्रदेशोदयमें मोड़ दिया जाना होता है। इससे वह कर्म अपना विपाक अर्थात प्रभाव नहीं दिखा सकता। जिससे उस कर्म के द्वारा अछत्र होता हुआ आत्मा का गुण अछत्र नहीं होता, परन्तु प्रकट होता है। आत्मा में दो प्रकार के धर्म हैं। (१) औदयिक धर्म, और (२) क्षायोपशमिक धर्म।

कर्म के उदय से जो गुण और जो धर्म प्रकट होता है वह औदयिक कहलाता है और कर्म के क्षयोपशम से जो प्रकट होता है वह क्षायोपशमिक गुण कहलाता है।

औदयिक धर्म से आत्मा में दुर्गुण या गुण के घातकर्त्ता संस्कार उत्पन्न होते हैं। मिथ्यात्व, क्रोध, अभिमान, कपट, काम, हास्य, शोक आदि दुर्गुण हैं। अज्ञान, निद्रा दुर्बलता और अलाभ आदि गुणोंके घात कर्त्ता हैं। इन सब की उत्पत्ति घाती कर्म के उदयसे होती है। ज्ञान, दर्शन, क्षमा, मृदुता, सम्यक्त्व इत्यादि सद्गुण हैं। इन सद्गुणों की प्राप्ति इन्हीं घाती कर्म के क्षयोपशम से होती है।

मिथ्यादृष्टि आत्मामें घाती कर्मके उदयसे औदयिक

धर्म प्राप्त होते हैं। और वे परम्परा से संसार वृद्धि के कारण बनते हैं। जबकि सम्यग्दृष्टि आत्मा घातीकर्म को क्षयोपशमिक भावसे सहन करता है। उससे उसमें क्षयोपशमिक गुण प्राप्त होते हैं। अतः घाती कर्म क्षयोपशमिक भावसे शमन करने का पुरुषार्थ करना चाहिये। पुरुषार्थ के लिये पंचाचारका पालन, कषायों की भयानकता विषयक वांचन-श्रवण और चिन्तवन, सद्भावनाएं, कषायोंके कटु फल संबन्धी दृष्टान्तों का मनन, क्षमा, मृदुता, सरलता आदि से प्राप्त अवसर; इत्यादि करना अवश्यक है। और ये सब क्षयोपशमके उपाय हैं।

आगे कह दिया गया है कि, कर्म के उदय होनेका समय न हुआ हो अर्थात नियत अबाधा काल की पूर्णता होने से पूर्व, कर्म उदय में आया होतो उसे उदीरणा कहते हैं। उदीरणा होना अर्थात अपक्वकाल में हुंडीका भुगतान होने जैसा है। अथवा क्रमशः पाँच वर्षों में दस लाख चुकाने के बजाय एक साथ दस लाख चुकाने जैसी स्थिति है। शक्तिशाली अर्थात एक साथ ऋण चुकानेमें समर्थ व्यक्तिके लिये अवधि पूर्ण होने के पूर्व भी ऋण चुकाना अपनी अच्छी दशामें ऋण मुक्त होने का अच्छा मौका है। इसी प्रकार सहन करने की शक्तिवाले को, यह उदीरणा-शीघ्रतया कर्म मुक्त होने के अवसर प्राप्ति

सदृश हैं।

सहन करने में असमर्थ के लिये उदीरणा द्विगुणित कर्म बन्धन करने वाली है। उदीरणा अपनी अपेक्षा अथवा अन्य की अपेक्षा दोनों प्रकार से होती है। सहन करने में समर्थ सम्यग्दृष्टि आत्माएं कर्म के ऋणसे शीघ्र मुक्त होने के लिये सो--विचार कर उदीरणा करते हैं, और उदीरणा द्वारा उदयमें लाये हुए कर्मों को समता-भाव से भोगकर उनकी निर्जरा करते हैं। इस प्रकार सहन करने में असमर्थ कई लोगों की अनिच्छा होते हुए भी उदीरणा उपस्थित हो जाती है और ऐसे समय वे आर्त-रौद्रध्यान करके नव अशुभ कर्मों का उपार्जन कर लेते हैं। ऐसी उदीरणा कई बार दूसरे की अपेक्षा भी प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार अपूर्ण अवधिमें भोगे जाते अन्य कर्मों की जैसे उदीरणा कहलाती है उसी प्रकार अपूर्ण अवधिमें आयुष्य भुगतने को 'उपक्रम' कहते हैं। कर्म की उदीरणा तथा उपक्रम को न मानें तो 'यह सुख दायी है और यह दुःखदायी है' ऐसा रहे भी नहीं और हिंसा जैसी वस्तु भी उड़ जाये। कर्म के कारणों से फेरफार न होता हो तो दुःखदायी को दुःखदायी भी नहीं कहा जा सकता और उसमें से बचाने वाले को दुःखहर्त्ता भी नहीं कहा जा सकता है। रक्षण कर्त्ता को कहते हैं कि तेरा

भला होवे क्योंकि तूने मुझे विपत्तिमें से बचाया। यह सब कब कहलाये जब कि उदीरण को माने तब! घड़ीमें चावी चौबीस घंटोंकी होती है यदि उसको टेस लगने से जो क्रमसे उतरने की थी वह सारी चावी सेंकडमें उतर सकती है। इसी प्रकार जो कर्म क्रमसे भुगतनेका था वह प्रयत्न करने से शीघ्र भुगत लिया गया। विपत्ति लाने वाले ने कर्मका शीघ्र भुगतना करवाया। यदि किसी ने शीघ्रता से चलानेवाले को रोक दिया तो जिस तरह घड़ी अपना कार्य करती रहेगी, इसी प्रकार विपत्तिको रोकने वाले के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। उदीरणा अथवा उपक्रम होने के हेतु इकट्ठे हो रहे हों, और उन्हें यदि कोई बिखरे दे तो वह बचानेवाला कहलाता है। हेतु उपस्थित करनेवाले को दुःखदाता कहते हैं। उदीरणा माने तो ही इस प्रकार कहा जा सकता है।

सहन करने में असमर्थ के लिये उदीरणा के समय रक्षण करने का हेतु जोडनेवाला चाहिये। समर्थ के लिये उसकी आवश्यकता नहीं होती। इन्द्र महाराजने भगवान महावीर की आपत्ति में रक्षा करने के लिये साथ रहने की अनुमति मांगी। प्रभुने कहा कि, तीर्थंकर किसी की सहायता नहीं लेते हैं। क्योंकि कर्म शीघ्र उदयमें आवे अथवा समय परिपक्व होने पर उदय में आवे तो भी

सहन करने की शक्ति उनमें थी। उदय में आया हुआ कर्म उदीरणा होकर उदय में आया है, अथवा पूर्णकाल में उदयमें आया है, यह तो ज्ञानी ही कह सकते हैं। उदय आने की अवधि यदि अपक्व हो तो कदाचित् बचाने वाले का उपाय चल सकता है, परन्तु यदि पूर्णकाल में उदय हुआ तो उससे कोई नहीं बचा सकता है। अवधिसे पूर्व ऋणदाता वसूली के लिये आवे तो लोग कहते हैं कि, इस समय उसकी शक्ति नहीं है, और इस विचारे को वृथा तंग किया जाता है, ऐसा कहकर वसूली के लिये आये हुए को लौटा देते हैं। परन्तु अवधि पूरी होने पर वसूली के लिये आया हुआ लौटाया नहीं जा सकता। फिरतो ऋणदाता सम्पत्ति पर कुड़की लगवाकर भी वसूल कर ही लेता है।

जिनेश्वर देव के शासन को जानने और समझने वाले की आत्मा में भी अन्य जीव के संरक्षण की भावना रहती है। जिस कर्म का उदय हुआ है वह तो उसे भुगतना ही पडेगा, अपने प्रयत्न से उसका संरक्षण होने की ही नहीं, ऐसी एकांत धारणा हो तब तो वह संरक्षण का प्रयत्न निष्फल ही माने और प्रयत्न करे ही नहीं। परन्तु दयालु आत्मा संरक्षण का प्रयत्न अवश्य करेगा। उदीरणा से उदय हुआ हो तो उसके संरक्षण का प्रयत्न

कदाचित सफल भी हो जाय, और पूर्ण कालमें उदय हुआ हो तो प्रयत्न की निष्फलता में भवितव्यता को मानेगा। अतः उदीरणा को माने तोही उद्यमकी सार्थकता रहेगी। उदीरणा को न माने तो उद्यमकी भी आवश्यता नहीं रहेगी।

स्वेच्छासे अथवा अनिच्छासे, स्वपनसे अथवा परवशात होती उदीरणा के समय सम्यग्दृष्टि आत्माएं तो ऐसा ही विचार करती हैं कि, सहन करने शक्ति नहीं फिर भी फलदायक कर्मोंसे अब डरना वृथा है। सत्तामें थे अतः भोगने पड़े आज सहनशक्ति नहीं है, परन्तु शायद इससे भी कम शक्ति के संयोगोमें उदय होगा तो इससे भी अधिक दुर्दशा होगी। अतः अब तो उदीरणा होने के हेतु को आगे धकेलने का प्रयत्न ही नहीं करना। अभी उस हेतु को आगे धकेल भी लिया जाय परन्तु पुनः जबतक कर्म सत्तामें रहेगा तब तक वैसे हेतु उपस्थित नहीं होंगे इसका क्या विश्वास ? अतः अबतो समता भावसे उसे भुगतलेना ही हितकारक है।

कल्याणकारी कार्य करनेवाले का तो यही संकल्प होता है कि क्रमशः भुगतूंगा। यही नहीं परन्तु उदयमें नहीं आये हुए कर्मों को भी लाकर तोड़ दूंगा और तदनुकूल प्रयत्न करता रहूंगा। अनुक्रम से उदयमें

हुए कर्मोंको तो चारों गतियों के जीव भुगतते हैं। मनुष्य गतिमें धर्म प्राप्त किया, धर्माचरण करने की स्थितिमें आये, अतः पहिले अनुदित कर्मको खींचलाने व। तथा नाश करने का उद्यम करना चाहिये। प्रत्येक गतिवाले को अबाधा काल जाता है, तब जैसे २ कर्म उदयमें आते हैं वैसे २ भोगे जाते हैं, परन्तु मोक्ष के लिये तैयार जीवकी मान्यता भिन्न होती है। अपने आप उदयमें आवे वही मुझे भोगने हैं ऐसा नहीं परन्तु उदयमें नहीं आये हुए, उन्हें भी उदयमें लाना जिससे वे मेरी आधीनता में रहें और वे कर्म टूट जांय ऐसी उसकी मान्यता रहती है। ये कार्य केवल समकित जाननेवाला, धर्म करनेवाला ही कर सकता है। कर्मों का उदय न हो तो भी लाना जिससे वह उदय अपने गुणोंमें बाधक न हो। शत्रु को चुनौति देना क्षत्रियोचित कार्य है, परन्तु क्षत्रिय को शत्रु की अपेक्षा बढकर तैयारी करनी चाहिये।

निर्जरा:—

पूर्व बद्ध कर्म दलियों में जिस प्रकार फेरफार हो सकता है, उसी प्रकार उनका क्षय भी हो सकता है। उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण और उदीरणा का स्वरुप उन कर्म दलिकों में फेरफार होने के रुप हैं, परन्तु क्षय होने के रुप नहीं। जो क्षय होने के रुप में हो उसे निर्जरा

कहते हैं। निर्जरा का प्रयत्न आत्मा में न हो तो कर्म दलिक प्रतिपल आत्मा में वृद्धि प्राप्त करते ही जायें और इस तरह कर्म से सर्वथा छुटकारा प्राप्त करके मोक्ष प्राप्ति ही न हो सके। यह जीव पल-पल पर आयुष्य को छोड़ कर सातों कर्म बाँधता है इस प्रकार समय समय पर आत्मा में कर्म प्रवाह चलता ही रहता है। एक समय भी आत्मा की स्थिति कर्म प्रवाह से विहीन नहीं रहती। तो फिर निर्जरा का प्रयत्न भी आत्मा को गतिमें साथ रखना चाहिये। मकान में सदा वायुके साथ धूल आती ही रहती है, परन्तु साथ ही झाड़ने बुहारने का कार्य भी आरम्भ हो तो धूल जमने नहीं पाती।

निर्जरा अर्थात पूर्वबद्ध कर्म का धीरे २ क्षय करना। सर्वथा क्षय रुपी निर्जरा तो अन्तिम मरणके समय अर्थात केवली मरण के समय-होती है। वैसी निर्जरा करने के बाद फिर कर्म बन्धन नहीं होता है और न कर्म की पुनः पुनः निर्जरा करनी पड़ती है। ऐसी निर्जरा न हो सके तब तक भी कर्म का धीरे २ क्षय करने रुप निर्जरा आत्मा में जारी रहे तो सर्वथा क्षय करने रुप निर्जरा की प्राप्ति भी भविष्य में हो सकती है।

निर्जरा कर्म से विमुक्त होने के लिये होती है। कर्म से दो प्रकार से मुक्ति हो सकती है-या तो कर्म भुगतकर

उससे छुटकारा मिल सकता है, अथवा तपस्या से भोगकर छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है।

मात्र भुगतलेने से ही छुटकारा होना हो तबतो जगतमें कोई भी जीव ऐसा नहीं है कि जो समय २ पर कर्मकी निर्जरा नहीं करता हो, फिर चाहे वह सूक्ष्म निगोदका हो अथवा चौदहवें गुण स्थानक में पहुंचा हुआ हो। सभी जीव समय समय पर कर्म की निर्जरा करते हैं। कोई भी सांसारिक जीव आठों कर्मों के उपभोग से वञ्चित नहीं होता। इससे जितने कर्म जीव भुगतता है, उतने टूटते हैं। इसका नाम भी निर्जरा है। परन्तु मात्र ऐसी भोग्य निर्जरा से मोक्ष मार्ग नहीं मिलता है। मोक्ष का मार्ग तो बारह प्रकार के तपसे होनेवाली कर्म निर्जरा से ही मिलेगा। यदि उपभोग की निर्जरा से मोक्ष प्राप्ति होना संभव हो तो जीव को भटकने की आवश्यकता ही क्यों रहती? क्योंकि ऐसी निर्जरा तो जीव अनादि काल से करता चला आ रहा है। अतः शास्त्रकारों ने मोक्षार्थ जो निर्जरा कही है वह भोगने से होने वाली निर्जरा नहीं बल्कि बारह प्रकार के तपसे होनेवाली निर्जरा है। उदयकी अर्थात् उपभोग की निर्जरा में तो जीव पुनः पुनः नये कर्मों का बन्ध करता ही रहता है, अत भोगने से होनेवाली निर्जरा अल्प होती है, और कर्म बन्ध अधिक एवं दृढ होते हैं।

मोक्ष के लिये तो निर्जरा ऐसी होनी चाहिये कि कर्मों का खंडन, बन्धकी अपेक्षा अधिक हो। मोक्ष के लिये वही निर्जरा उपयोगी है। इन बारह भेदों से निर्जरा करनेवाले को मोक्ष प्राप्ति में कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता है। बारह प्रकार के तप की एक एक निर्जरा में अनंत भवों के पापों को क्षय करने की सत्ता है, शक्ति है। उनके लिये जैन शास्त्रमें अनेक दृष्टान्त दिये हैं। घोर पापोंसे भारभूत बने हुए अर्जुनमाली और दृढप्रहारी इत्यादि पुरुषोंने तपस्या से ही क्षण भर में निर्जरा साधने में सफलता प्राप्त की है।

पुरुषार्थ:----

उद्वर्तन, अपवर्तन संक्रमण, उदीरणा और निर्जरा का स्वरूप आत्मा के लिये पुरुषार्थ के प्रेरक रूप है। कर्म के अनादि काल के संयोग से इस जीव ने नरक-निगोदादि के अनंत दुःखों का अनुभव किया है। कर्म जड़ है, आत्मा चेतन है। जड़के योग से चेतन को दुःख प्राप्त हुआ है, और अब भी जबतक जड़का संयोग है, और रहेगा तब तक दुःख प्राप्त होगा। वास्तविक सुख की प्राप्ति इन जड़ कर्मों का संयोग दूर करने से ही होगी। कर्म प्रबल है, उसे वश में लाना पुरुषार्थ के बिना शक्य नहीं है।

आत्मा में अनंतवीर्य विद्यमान है। घर्षण के बिना उद्योत नहीं होता। गंधक में रही हुई अग्नि घर्षण से ही प्रकट होती है। आत्मा में भी अनंतवीर्य-शक्ति होते हुए भी जबतक क्षयोपशमका घर्षण न हो तबतक वीर्य अपना कार्य नहीं कर सकता है।

जो आत्मा अपने स्वयं के उत्तरदायित्व एवं जोखिम पर दृढ रहे और पुरुषार्थ को स्वीकार करे वही मोक्ष के लिये अधिकारी बन सकता है। जो आत्मा अपने उत्तर-दायित्व को सुदृढता से स्वीकार करता है वह आत्मा कर्म को अपनी अपेक्षा अधिक समर्थ नहीं मानता, अपितु कर्म से अधिक समर्थ अपने आपको (आत्मा को) अर्थात् अपने उद्यम को मानता है।

श्रीमद् हरिभद्र सूरीश्वरजी महाराज का कथन है कि "जो कर्मवादी हैं (कर्म आत्मा से अधिक समर्थ है ऐसा मानने वाले हैं)उनका संसार एक पुद्गल परावर्तनकी अपेक्षा अधिक होता है, और जो पुरुषार्थवादी हैं उनका संसार एक पुद्गल परावर्तन की अपेक्षा भी कम होता है।"

कर्म करे वही सत्य, भाग्य होगा वही सामने आयेगा, भाविभाव, जैसा उदय--इत्यादि कायरता के वचनों का उच्चारण पुरुषार्थवादी कभी भी नहीं करते। पुरुषार्थ के बिना सिद्धि कहां? सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं उस समय

प्राप्ति के पूर्व तो मिथ्यात्व होता है। अनंतानुबन्धी कषायों को तोड़ने पर मिथ्यात्व भागता है, और सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। केवल ज्ञान भी ज्ञानावरणियादि घाती कर्मों को तोड़ कर (क्षय करके) प्राप्त किया जाता है। मोक्ष प्राप्ति के लिये भी अवशेष कर्मों का क्षय करना पड़ता है। प्रयत्न के बिना कभी भी प्रगति नहीं होती। जैन शास्त्र का यही विधान है। ग्रंथि (राग द्वेष की प्रबल गांठ) आवे तबतक जैन शास्त्र में यथाप्रवृत्ति करण मानने में आता है। उस यथाप्रवृत्ति करण तक भवितव्यता है उसके बाद प्रयत्न के बिना चले ऐसा नहीं है। सम्यक्त्व में भवितव्यता से अनंतानुबन्धी का भेद नहीं होता, परन्तु वहां तो अपूर्वकरण द्वारा अत्यन्त वीर्योल्लास रुप अपूर्व प्रयत्न हो तबही अनंतानुबंधी का भेद हो सकता है। वर्षा अन्न का उत्पादन करती है। पर रोटी बनाने के लिये तो स्वयं प्रयत्न करना पड़ेगा। रोटी भी वर्षा बना देगी ऐसा कोई मानता है तो भूखाही रहेगा। उसी प्रकार भवितव्यता का काम यथाप्रवृत्ति करण तक है। फिर जो अपना जीवन भवितव्यता के हाथ ही सौंप कर बैठ जाते हैं उन्हें मोक्ष प्राप्ति कदापि नहीं होगी। और वे तो काम भोग के कीचड में अधिक ही फँसने के हैं। काम भोगमें फंसे रहने वाले ही मात्र भवितव्यता के

भरोसे बैठे रहते हैं। देशविरति उपशम श्रेणिसे मोक्ष गमन तक सभी में आत्मा का पुरुषार्थ विद्यमान है। यदि अकेली भवितव्यता ही भाग्यविधाता होती तब तो मोक्ष पर्यन्त यथाप्रवृत्तिकरण होता परन्तु, वैसा नहीं है।

ग्रंथिभेद के पश्चात आत्मा को वीर्योल्लास की आवश्यकता है। जैन शास्त्र भवितव्यता को मानने का निषेध नहीं करता है, परन्तु वास्तविक रीतिसे मानने के लिये कहता है। जैनों की भवितव्यता की मान्यता का उपयोग समझना विशेषतः आवश्यक है। जब आत्मा संकल्प-विकल्प से आर्त्त रौद्रध्यान में जाती है तब उसे बचाने के लिये भवितव्यता का आश्रय देने के विषयमें जैन शास्त्र का विधान है। भवितव्यता की ओर आकृष्ट करने में हेतु तो आत्मा को रौद्रध्यानसे (उससे होनेवाले कर्म बन्धनसे--दुर्गतिसे) बचाने का है। सम्यग्दर्शनादि धर्मानुष्ठान में भवितव्यता को आगे करने का (भवितव्यता के बहाने धर्मध्यानादि से पीछे कदम रखना-धर्मध्यान नहीं करना) जैन शासन में कोई विधान नहीं है। परन्तु श्री तीर्थंकरदेव के वचनामृतका पान करने के बाद परिस्थिति को पहचान लेनेके उपरान्त भी कर्म कीचड़ को धोनेमें--आत्मा से निकाल देने में आलस्य नहीं करनी चाहिये। वहां 'भावी होकर रहेगा' ऐसा भवितव्यता का

उपयोग नहीं करना चाहिये। वहां पुरुषार्थ करनेका सतत एवं सुदृढ उपदेश है।

कार्य सिद्धि में जैन दर्शन पांच कारण मानता है:— (१) भवितव्यता (२) कर्म (३) नियति (४) काल और पुरुषार्थ (उद्यम) इन पांचों में करने का एक ही है, और वह है उद्यम। उद्यम की भांति अन्य चार भी कारण हैं, फिर भी उनमें प्रधानता उद्यम की है। काल-स्वभाव इत्यादि किसी के करने से नहीं होते, परन्तु जीव कर सके तो वह उद्यम ही है। जिन्हें सच्चा पुरुषार्थ करना ही नहीं वे तो अपने बचाव के लिये कहा करते हैं कि मन में चिंतित कार्य करने में, न करने में अथवा बदलने में संसार में कोई समर्थ नहीं है, जो भावी होता है वही होकर रहता है, भवितव्यता ही बलवान है, वह जो कुछ भी करे वही करना, इसमें अपना कुछ भी नहीं लगता, जो होना है वह लाख उपाय करने पर भी होकर ही रहेगा।

अब यदि भवितव्यता ही आधार भूत हो तो सबकी भवितव्यता विभिन्न क्यों? वहां तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि आत्मा का प्रयत्न उत्तम होगा तभी उसके फल-स्वरूप भवितव्यता भी उत्तम होगी। आत्मा का प्रयत्न निकृष्ट हुआ तो परिणाम में भवितव्यता भी तदनुकूल

ही होगी, इससे भवितव्यता का पंगुपन सिद्ध होता है। जब तक जीव कर्म बन्धन न करे तब तक भवितव्यता की शक्ति नहीं कि वह जीव को किसी भी गति में लेजा सके। अतः भवितव्यता की उत्पत्ति में जीव का उद्यम (पुरुषार्थ) ही कारण भूत है। भवितव्यता का निर्माण होने के समय भी जीव का उद्यम तो होता ही है परन्तु मिथ्यात्व के योग से वहां विपरीत उद्यम होता है। अतः परम्परा से संसार की वृद्धि करने वाली भवितव्यता का वह निर्माण करता है।

सच्चे उद्यम अथवा सच्चे पुरुषार्थ का जब तक उसे भान हो तब तक उद्यम के द्वारा भवितव्यता का निर्माण होते हुए भी उत्तरदायित्व भवि व्य । को ही सौंपा जाता है। काल, स्वभाव, और भवितव्यता पुरुषार्थ के बाहर की वस्तु है, वह पुरुषार्थ का विषय नहीं है। पुरुषार्थ के विषय में तो कर्म करना, उन्हें भोगना, अथवा मोक्ष का कारण प्राप्त करके अन्त में मोक्ष की प्राप्ति करना ये ही हैं। हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि कर्मोदय से होते हैं, उनमें उद्यम करने के लिये श्री जिनेश्वर देव ने आदेश नहीं दिया है, परन्तु मोक्ष मार्ग के सम्बन्ध में उद्यम करने के लिये भगवंत ने अवश्य आज्ञा दी है। मिथ्यात्व दशा में जीव का पुरुषार्थ कर्म करने में

तथा भोगनेमें ही जाता है। और मिथ्यात्व नष्ट होने पर मोक्ष के कारण संचित करने में पुरुषार्थ होता है और उन कारणों से ही मोक्ष प्राप्ति होने के रूप में कार्य की सिद्धि होती है।

जिस प्रकार कई लोग उत्तरदायित्व भवितव्यता के सिर पर मंढ देते हैं, उसी प्रकार कई अपने आपको निर्दोष मानते हुए कर्म को दोषी ठहराते, हैं पर यहां सोचें तो समझमें आवे कि कर्म जड़ हैं अथवा चेतन ? कर्म किसी के करने से हुआ अथवा स्वयं प्रस्फुटित हुआ ? तब स्वीकार करना पड़ेगा कि कर्म का कर्त्ता भी जीव ही है, तो फिर मोक्ष भी है ही। वृक्षके अंकुर अथवा अनाज स्वयं उत्पन्न नहीं होते हैं। बीज स्वयं ही नहीं फूट जाता है, उसमें उगाने वाले कृषक का उद्यम वांछनीय है और न हो तो कृषक क्या बोये ? अतः बीज और वपनकर्त्ता दोनों का होना अनिवार्य है। इतना ही नहीं किन्तु, वृष्टि का साधन भी नहीं टाला जा सकता, फिर भी खेतका स्वामी तो कृषक ही कहलायेगा। यद्यपि बीज में से अन्न उत्पन्न होता है तथापि उत्पादक तो कृषक ही कहलायेगा। सारी सामग्री होते हुए भी बोना या न बोना, थोड़ी जमीन उपयोग में ली जाय या संपूर्ण क्षेत्र, अन्न का वपन करना अथवा किसी अन्य वस्तु का, कौनसा

अनाज बोना, इन सब बातों का उत्तरदायित्व कृषक के सिरपर होता है। उपरोक्त दृष्टान्त से समझलेना चाहिये कि आत्मविकास साधना हो तो भवितव्यता के भरोसे न बैठ कर आश्रव (कर्म आने का मार्ग) रूपी पुरुषार्थ से दूर रहकर संवर (आते हुए कर्म को रोकने का मार्ग) तथा निर्जरा (पूर्व बद्ध कर्मों का क्रम से क्षय करना) रूपी पुरुषार्थ में आत्मा को प्रयत्न शील बनाना चाहिये।

मानव को, दाँतों की प्राप्ति होना भवितव्यता पर आधारित है, परन्तु चबाने का कार्य भवितव्यता नहीं करवायेगी, वह तो उद्यम से ही होता है। इसी प्रकार मनुष्यके भवादि सामग्री की प्राप्ति भवितव्यता के हाथ है, परन्तु उस सामग्री से संवर और निर्जरा करना पुरुषार्थ से ही संभव हो सकता है। जहां संवर तथा निर्जरा के लिये प्रयत्न की आवश्यकता है, वहां भवितव्यता के भरोसे रहना बड़ी भारी भूल है।

"कर्म का उदय भवितव्यता के आधीन हो जाय, परन्तु दर्शन-ज्ञान-और चारित्र, इन रत्नत्रय की आराधना, संवर तथा निर्जरा का पोषण तथा आश्रव, बंध का शोषण ये सारी बातें तो भवितव्यता नहीं करेगी, वहां तो आत्मा को ही प्रयत्न करना पडेगा।"

श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज कहते हैं कि (पंच वस्तु पृष्ठ २६-२७) बादररुप, सूक्ष्मरुप, पर्याप्तरुप, पंचेन्द्रियता, मनुष्यता, देवगुरु धर्म का संयोग और श्रद्धा आदि की प्राप्ति हुई है, परन्तु उन सब की सफलता की कूंजी तो पुरुषार्थ ही है, पुरुषार्थ में ही कसौटी है, उसमें यदि पीछे रहे तो फिर हो चुका। उपरोक्त सभी वस्तुओं की प्राप्ति होते हुए भी यदि आराधना न करे तो प्रयत्न में त्रुटि ही कहलायेगी, साधन होते हुए भी साध्य सिध्द न हो सके तो साधन की सार्थकता ही क्या? नव कर्म बन्धन न करना, बांधे हुए कर्मों को तोड़ना तथा उदय में आये हुए कर्मों को निष्फल करने में पुरुषार्थ के बिना मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति होना असम्भव है।

श्री हरिभद्र सूरीश्वरजी महाराज कहते हैं कि अंतिम पुद्गल परावर्तन में आया हुआ जीव ही उद्यम में कटिबद्ध होता है। जब तक पूर्व संचित अंतराय कर्म होते हैं, तब तक कार्य सिद्धि में स्खलनाएं होती रहती हैं परन्तु उस अंतराय कर्म को तोडने वाला उद्यमी ही है।

अब यह विचार करना है कि उद्यम किस प्रवृत्ति में करे; किस प्रकार करें कि जिससे नव कर्मों का बन्धन न हो, बांधे हुए टूटते जांय और उदय में आये हुए निष्फल सिद्ध हों [illegible]

मोक्ष का मार्ग औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव में हैं, ये तीनों भाव उद्यम से ही सिध्द होते हैं, इन तीन भावों से भी बहुतेरे अज्ञात होते हैं।

मानलो कि दस हजार के ऋण कर्ता तीन व्यक्ति हैं, उनमें से एक ने तो आना पाई तक रोकड़ चुका दिये, और वह ऋण से मुक्त हो गया।

दूसरे ने राज्याधिकारियों के पास सिफारिश पहुंचा कर ऐसा आदेश प्राप्त कर लिया कि, उस पर बारह महिनों तक न कोई दावा कर सके, न कोई कुड़की ला सके, और न वारट आदि प्राप्त सके।

तीसरे ने सबको एकत्रित करके अपनी परिस्थिति बता कर उन्हें समझा दिया।

इसी प्रकार आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चरित्र गुणों पर कर्मों का आक्रमण हुआ, तब संपूर्णतया सामर्थ्यवान आत्मा ने तो कर्मों का छेदन कर दिया (रोकड़ रकम चुकादी) और मुक्त हो गया, उसने आत्मा के गुणों को जाज्वल्यमान कर दिये इसी का नाम क्षायिक भावशाला कहते हैं।

दूसरे प्रकार के आत्मा ने अवधि मांगी और उसी का नाम है औपशमिक भाव।

तीसरे प्रकार के आत्मा ने ऋण दाता और ऋण

लेनेवाले दोनोंमें से किसी को भी हानि न हो ऐसा मध्यस्थ मार्ग निकाला। कर्म के रस को तोड़े भी और साथ ही पुद्गलको भी रहने दे। इसी का नाम है क्षायोपशमिक भाव वाला। ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय हो तब उनके विकारों का क्षय करने में आवे तथा उनके प्रदेशों को क्रमशः भोगा जाय इसका नाम है क्षायोपशमिक भाव। कर्मों को अनुक्रम से शान्त करना इसी का नाम है क्षायो-पशमिक भाव। धर्म इन तीनों भावों में है। रत्नत्रयी आदि धर्म अथवा दानादि चतुष्करुपी धर्म इन तीनों उपवनों अथवा उद्यानों में निवास करनेवाले हैं। इस उद्यान अथवा उपवन का निर्माण प्रयत्न के बिना संभव नहीं है।

मनुष्य भव, पचेन्द्रियत्व आदि सामग्री औदयिक भाव की हैं। मोक्ष साधनों के लिये इन सामग्रियों की आवश्यकता तो निःसंदेह रुपसे रहती है, परन्तु इनकी सफलता क्षायोपशमिक वालेको ही मिलती है। और वह भी प्रशस्त क्षायोपशमिक भाव वाले को। अभी हमें क्षायोपशमिक तथा औदयिक इन दोनों भावों का योग प्राप्त है, परन्तु वह प्रशस्त कोटिका कितने अंशमें है, और अप्रशस्त कोटिका कितने अंश में है, इसका निर्णय योग्य विचार से, स्थूल रातिमें तो अपने स्वयं अवश्य कर सकते

हैं। और इस प्रकार पृथक्करण करने का प्रयास जारी रक्खें तो इस प्रकार भी हम अपने अपने अधिकांश विकास को साधने में सफल हो सकते हैं।

क्षायोपशम चार घाती कर्मों का होता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। चारों घाती कर्मों के द्वारा आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनंत चारित्र और अनंत वीर्य ये चारों गुण प्रच्छन्न हैं। इन चारों गुणों के प्रकट होने के पश्चात अव्याबाध, अक्षयस्थिति, अरूपीपन और अगुरुलघु इन चारों गुणों की प्राप्ति सरल है। अतः चारों घाती कर्मों का क्षयोपशम साधना चाहिये। इन चारों कर्मों का क्षयोपशम साधने के लिये ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पांचों आचारोंके भेदोंका ज्ञान संपादन करके, उन पांचों आचारों के उपभेदों की आराधना में प्रयत्नशील बनना चाहिये। तथा इन भेदों की आराधना जिनमें होती है वैसे अनुष्ठानों में प्रवृत्ति करने से घाती कर्मों का क्षयोपशम अनुक्रमसे वृद्धि प्राप्त करता है और उस दशा में अनंतज्ञानादि चारों गुणों के प्रकटीकरणमें क्षायिक भावकी संपूर्णतया प्राप्ति होती है। यहां इतना तो विशेषरूप लक्ष्यमें रखना आवश्यक है कि क्षायिकभाव की प्राप्तिके परिणाममें प्रशस्त क्षायोपशमिक भाव ही

होता है, उस प्रशस्त क्षायोपशमिक भाव का सम्यग्दर्शन गुण के प्रकटीकरण के साथ होता है, सम्यग्दर्शन गुण दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम अथवा क्षयोपशम से होता है, अन्य कर्म का क्षयोपशम भी दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम का मेल जब उसके साथ जुड़े तब ही प्रशस्त क्षयोपशम भावको प्राप्त करता है। दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम के बाद चारित्र मोहनीय का भी सुन्दर क्षयोपशम होता है। प्रशस्त क्षयोपशमिक भाव की श्रेणी उच्च है।

विना प्रशस्त क्षयोपशमिक भाव के औदयिक भाव की भी कीम्मत कुछ नहीं है। औदयिक भाव की प्राप्ति सरलता से हो सकती है। ऐसा औदयिक भाव इस जीव ने संसार के परिभ्रमण में कई बार प्राप्त किया होगा। आधुनिक वैज्ञानिकों ने मनुष्य भव, धन धान्यादि औदयिक भाव की सामग्री होने के साथ २ मति ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम द्वारा अनेक अविष्कार किये हैं, परन्तु दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम के बिना उस औदयिक और क्षयोपशम भाव की सार्थकता ही क्या? उनका तो क्षयोपशमिक भाव भी औदयिक भाव के बल से मलीन बनकर औदयिक भाव को ही पुष्ट बनाने वाले होते हैं। अर्थात् दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशमनिक

भाव चायिक भाव की प्राप्ति के रुप में नहीं होता है।

प्रशस्त चयोपशमिक भाव प्रकट करने के लिये औदयिक भाव का बल पहिले हटाना चाहिये, औदयिक भाव पर अंकुश चयोपशमिक भाव ही ला सकता है। अतः औदयिक भाव की पराधीनता में से मुक्त होने के लिये तथा प्रशस्त चयोपशमिक भाव की प्राप्ति के लिये आत्मा को दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के चयोपशम के प्रति दृढ़ लक्ष्य वाला बनना चाहिये।

कई बार ऐसा भी होता है कि प्रशस्त चायोपशमिक भाव प्राप्त करने की तीव्र भावना होते हुए भी तदनुरुप अनुष्ठानों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, और औदयिक भावना उतनी प्रबल न हो फिर भी तदनुरुप अनुष्ठानों में शीघ्रता से प्र ृत्ति हो जाती है। इसका कारण यह है कि आत्मा के साथ वैसे ही कर्म संलग्न हैं जो औदयिक भाव में तीव्रता लाते हैं और तदनुसार प्रवृत्ति करवाते हैं। उस दशा में जिस प्रकार कर्म सहायक बनते हैं वैसे ही मोक्ष साधन में कर्म अंतराय करने वाले भी बनते हैं। चयोपशम के साथ जब आत्मा के पुरुषार्थ का योग होता है तब मोक्ष की साधना हो सकती है, आत्मा को पुरुषार्थ के लिये उत्साही बनने में बाधा डाले तथा आत्मा के पुरुषार्थ को मिटा देने में जुटा रहे ऐसा भी कर्मोदय हो

सकता है। ऐसा होते हुए भी, कर्म के प्रबल उदय के सामने भी अग्रसर होने का प्रयत्न जारी रखने वाले अवश्य सफल होते हैं।

कर्म का उदय जानकर विचार करना चाहिये कि यह कर्म जैसे २ प्रबलता को ग्रहण करे, वैसे २ मैं भी उसे तोड़ने का प्रयत्न करूँ। ऐसा करने में यदि असफलता प्राप्त हो, पुनः पुनः असफलता प्राप्त हो, तब भी मुझे इसके लिये प्रयत्न नहीं छोड़ना चाहिये।

कर्म का उदय कितना ही प्रबल क्यों न हो, यदि आत्मा धैर्य के साथ अपने पुरुषार्थ को जारी रक्खे तो वह आत्मा अवश्य सफलता को प्राप्त कर सकता है। परिश्रम करते हुए तत्काल सफलता की प्राप्ति होना कम संभव है, परन्तु यदि प्रयत्न बराबर जारी रखा हो तो ध्येय सिद्ध हुए बिना रहे ही नहीं। ज्ञानावरणीय के प्रबल उदयमें भी सतत बारह वर्ष पर्यन्त प्रयत्न चालू रखनेवाले माषतुष मुनि भी अनन्त ज्ञानी बने थे। "मारुष मातुष" इतने ही पद कंठस्थ करते हुए भी, स्मृति में नहीं रहते थे उनका रटन दो चार दिन, दो चार माह अथवा दो चार वर्ष तक ही नहीं परन्तु बारह वर्ष तक उन्होंने जारी रखा था। केवल इतने ही पदों को कंठस्थ करना

अभ्यास सततरुप से करते हुए भी याद नहीं रहने के कारण लोग हंसते थे, उनका उपहास करते थे, वे लोग उनकी निन्दा भी करने लगे, परन्तु मुनिने अपने मस्तिष्क का संतुलन बिना खोये समतारस में मग्न होकर कंठस्थ करने का प्रयत्न जारी रक्खा। इसका परिणाम यह हुआ कि 'मारुष मातुष' इन्हीं पदोंका तो क्या, परन्तु इन महामुनि को जगत के सभी जीव-अजीव पदार्थों तथा उनके सभी पर्यायों तक का भी सर्व कालीन ज्ञान हो गया। यदि उस समय पुरुषार्थ करने से वे उकता गये होते और ज्ञान के प्रति उनमें दुर्भाव उत्पन्न हुआ होता तो, शायद वे इससे भी घोर प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म के उपार्जन कर्ता बनते। नन्दिषेण मुनिने वेश्या के यहां निवास करके भी बारह वर्षों में अपने चारित्र मोहनीय कर्म को निर्बल बनाने के हेतु प्रतिदिन दस दस व्यक्तियों को प्रतिबोध देकर त्यागी बनाने का क्रम पकड़ रक्खा था। अतः जिसे अपना कर्म प्रबल लगता हो, उसे यह कर्म निर्बल बनाने का प्रयत्न करना ही चाहिये। बिना प्रयत्न के सिद्धि नहीं होती। श्री जिनेश्वर देव का वचन, 'भवित-व्यता-काल-नियति और कर्म ये चारों कारण' के लिये दर्पण 'समान' हैं तथा 'उद्यम' के लिये रणसिंह के समान है।

पुरुपार्थ से निर्वाण प्राप्ति

जन्म मरण की घटमाला में से जीवन को मुक्त करने, संसार के दुःखों में से उसे छुड़वा कर, निर्वाण के मार्ग पर आत्मा को ले जाने के लिये उपशम-क्षयोपशम और क्षायिक भावरुप पुरुपार्थ की आवश्यकता है। निर्वाण का मार्ग लम्बा और कठिन है और जितना पुरुषार्थ विशेष होगा उदना ही निर्वाण का मार्ग भी निकट आता जाएगा। इस मार्ग के प्रयाण में आगे बढ़ी हुई आत्मा का विकास समझने के लिये जैन शास्त्र में चौदह सोपान बताये हैं। ये सोपान चढ़ते २ निर्वाण प्राप्त होता है। इन सोपानों को गुणस्थानक कहते हैं।

जिस स्थान पर पूर्व प्राप्त हुए गुणोंसे कोई विशेष गुण प्रकट होते हैं, वह गुणस्थानक कहलाता है।

संसार के जीव कर्म संयुक्त है, तथापि सारे जीव एक ही श्रेणी के हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। सांसारिक जीवों में भी कर्म भेद--पर्याय भेद है। यह भेद समझने के लिये ही जैन सिद्धान्त में चौदह गुणस्थानक निर्धारित हुए हैं। जिन श्रेणिओं के अन्दर होकर अथवा परिस्थितियों में होकर भव्य जीव क्रम २ से मुक्ति मार्ग में अग्रसर होते हैं, उन श्रेणियों अथवा अवस्थाओं का नाम गुणस्थानक है। जन्म जन्मान्तर के सत्कृत्य के बल

से जो भवी जीव मोक्ष मार्ग में विचरण करने लिये तैयार होता है, उसे क्रमशः चौंद भूमिकाएं पार करनी पड़ती हैं। जैन शासन में इन्हें 'चौदह गुण स्थानक' के नाम से पहिचाना जाता है।

कर्म की ऐसी विचित्र महिमा है कि, मोक्ष मार्ग की साधना में भी वह अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित कर देता है। इससे कई बार गुणस्थानक रुप अवस्था में आगे बढी हुई आत्मा उल्टे मुँह भी गिर पड़ती है। इस प्रकार उत्थान पतन करता हुआ धीर, दृढचित, सहनशील साधक मोक्ष मार्ग के इन कष्टोंको, दुःसह्य कर्म विपाकको, अविचलित रुप से सहन करता हुआ, क्रम २ से आगे बढता है। कर्म बन्धन जितने कठोर हैं, उतना ही कठिन यह मोक्ष का मार्ग है।

चौदह अवस्थारुप चौदह गुणस्थानकों में से किसी न किसी गुणस्थानक में संसारी जीव केवल अवस्थित होता है। विकास की दृष्टि से एक की अपेक्षा दूसरा गुणस्थानक अधिक गुणका स्थानक है। चौदह गुणस्थानक मोक्ष महल तक पहुंचने की चौदह सीढियां हैं। अपने वीर्यका उपयोग करने वाली आत्मा ही उन सीढियोंको पार करके आगे बढता है। उन गुणस्थानों के नाम निम्न लिखित हैं:—

संपूर्णतया संयत हो, फिर भी उसमें प्रमाद रह जाते हैं, उसे प्रमत संयत नामका छट्ठा गुणस्थानक कहते हैं।

इसके बाद संज्वलन नामक कषाय को मन्द करने से पूर्ण संयत जीव प्रमाद के जालमें से मुक्त हो जाय तो वह अप्रमत नामक सातवें गुणस्थानक में पहुँचता है।

सातवें गुणस्थानकमें रहा हुआ अप्रमत्त मुनि संज्वलन कषायों का अथवा नौकषायोंका उदय अत्यन्त मन्द होते ही, पूर्व में नहीं प्राप्त हुए ऐसे अपूर्व परम आनन्द-आनन्दमय परिणाम-आत्म परिणाम रुपकरण प्राप्त करे वह अपूर्व करण गुणस्थानक है।

यह ध्यान बहुत वृद्धि प्राप्त करता हुआ मोह कर्म समूह के स्थूल अंशों को क्षीण करे अथवा उपशम भावसे तिरे तब जीव अनिवृत्ति करण नामक नवमें गुणस्थानक में आरूढ होता है।

इस प्रकार कषायों को निर्बल बनाता हुआ जीव सूक्ष्म कषाय गुणस्थानक में पहुंचता है। यहां सूक्ष्म लोभमात्र का उदय होता है। सर्व प्रकार के मोह उपशांत होने पर जीव जिस गुणस्थानक में आता है वह उपशांत मोह गुणस्थानक है।

मोह समूहका सर्वथा क्षय हो, वह क्षीण मोह गुणस्थानक है। उसके बाद चार प्रकार के घाती कर्मों

[स]र्वथा क्षय होते ही जीव को निर्मल केवल ज्ञान प्राप्त [होता] है, वह सयोगी नामक तेरहवां गुणस्थानक है। सर्व [प्रका]र के कर्म क्षय पूर्व की अत्यन्पचरण व्यापी जो [अव]स्था आत्मा की होती है वह चौदहवां गुणस्थानक [है।] इसका नाम है अयोगी केवली। यहां कर्म का संबध [नहीं] होता है। फिर यह आत्मा सारे झंझटोंमें से मुक्त [हो]कर विश्व के शिखर पर चढ़ती है। जिस प्रकार [तूं]बा सारे मल से मुक्त होकर डूब करके जमीन पर नहीं [ज]ाता है, परन्तु पानी की सतह पर ही तैरता रहता है, [उस]ी प्रकार चौदह गुणस्थानकों को जिस आत्माने पार कर [लि]या है, वह निखिल कर्म के साथ स्पर्श से भिन्न रहकर [लो]काकाश के शिखर पर सिद्ध शिला पर विराजमान [हो]ती है। तथा उसे अनन्त तथा नित्य सुख की प्राप्ति [हो]ती है। उसकी सुभग शांति किसी प्रकार भी भंग नहीं [हो]ती है। मोह तथा घटमाला में उसे पुनः नहीं आना [प]ड़ता है। इसमें शक्ति और ज्ञान होते हुए भी संसार से मुक्त हुई आत्मा पुनः भौतिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करती है।

वीर सं० २४८४ — समाप्त — ई० सं० १९५८